॥ ॐ ॥

गीतानुशीलन

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीताकी विस्तृत भावानन्दी व्याख्या।

खण्ड २

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(श्री गीता अ० १८ श्लो० ४६)

सम्पादक
श्री गणेशचन्द्र प्रामाणिक

प्रकाशक
राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर, जबलपुर।

[illegible]रण } भादृपद { [illegible] वार्षिक २)
[illegible] } सं० १९८१ { १ प्रति ॥-)

पुस्तक का लाभांश जबलपुर अनाथालय की सेवा में व्यय होगा।

[illegible]

॥ ॐ ॥

गीतानुशीलन

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीताकी विस्तृत मायानन्दी व्याख्या।

खण्ड १

यतःप्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

[श्री गीता अ० १८ मं० ४६]

प्रकाशक

गणेशचन्द्र प्रामाणिक

जबलपुर।

१ संस्करण } प्रथम आवृत्ति { देय ।=)॥
१००० प्रतियां } सं० १९९१ {

☞ इस पुस्तकका लाभांश एक अनाथालयकी स्थापनामें व्यय होगा।

गीतानुशीलनके नियम ।

१. किसी खण्डका देय ॥) से अधिक न रहेगा।

२. चार हजार ग्राहक होजाने पर गीतानुशीलन प्रति मास निःसन्देह निकलेगा।

३. जो महाशय गीतानुशीलनके लिये १० ग्राहक संग्रह करके एक साथ १० प्रतियाँ मँगाया करेंगे उनको एक प्रति उपहार में दी जायगी, और जो महाशय पाँच प्रतियाँ इसी प्रकार मँगावेंगे उनको आधे देय पर एक प्रति दी जायगी।

ये महाशय भी गीतानुशीलनके सहायक माने जायँगे।

४. गीतानुशीलनके प्रचारके लिये सर्वत्र एजेंटोंकी आवश्यकता है। इनके नियम अलग हैं।

५. पत्र व्यवहारमें ग्राहकोंको अपना पता और ग्राहक नं० (जो आवरण पत्र पर दिया रहता है) स्पष्ट लिखना चाहिये।

६. तीन महीनेसे अधिक कालके लिये पता बदलना हो तो सूचना देना चाहिये।

७. गीतानुशीलनके लाभांश से एक अनाथालय खोला जायगा।

८. गीतानुशीलनके संरक्षक, सहायक और एजेन्ट "अनाथालय सभा"के सदस्य हो सकेंगे।

९. जिन महाशयोंको गीतानुशीलनके संरक्षक, सहायक या एजेन्ट होना हो अथवा इसमें विज्ञापन देना हो, वे प्रकाशकके साथ पत्र व्यवहार करें। ग्राहक होनेकी सूचना तथा मनी आर्डर आदि भी प्रकाशकके नाम भेजना चाहिये।

१०. डाक व्यय और वी. पी. ग्राहकोंको देना पड़ता है। जो महाशय कमसे कम १) अग्रिम जमा करा जावेंगे उनको यह खर्चा न देना पड़ेगा।

गढ़ाफाटक जबलपुर } गणेशचन्द्र प्रामाणिक प्रकाशक, 'गीतानुशीलन'

आर्य ज्ञानोदय ग्रंथमाला ।

पं० सूर्यदत्त शर्मा द्वारा सम्पादित। सहायार्थ वार्षिक ५) मात्र। यह ग्रन्थमाला वैदिक धर्म शिक्षार्थ, आर्य ग्रन्थोंके प्रचारार्थ व वर्णाश्रम धर्मके सुधारार्थ प्रकाशित होती है। धार्मिक ग्रन्थोंके प्रचारकी न्यूनतासे सम्प्रति सनातन (वैदीक) धर्म शिथिल अवस्थामें है। उसको उत्तेजना देना इस ग्रन्थमालाका उद्देश्य है। वैशेषिक दर्शन का भाष्य छपगया है। मिलनेका पता—आर्य ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, पचरांव, चुनार।

॥ ॐ ॥

गीतानुशीलन

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीताकी विशुद्ध आशावादी व्याख्या।

खण्ड २

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

[श्री गीता अ० १८ श्लो० ४६]

प्रकाशक

गणेशचन्द्र प्रामाणिक

जबलपुर।

१ संस्करण } पौष } देय ।≈)॥
१००० प्रतियां } सं० १९७० }

☞ इस पुस्तक का लाभांश जबलपुर अनाथालय की सेवा में व्यय होगा।

कर्मवीर प्रेस, जबलपुर।

गीतानुशीलन के नियम।

१. किसी खण्ड का देय ।।) से अधिक न रहेगा।

२. चार हजार ग्राहक हो जाने पर गीतानुशीलन प्रति मास निःसन्देह निकलेगा।

३. जो महाशय गीतानुशीलन के लिये १० ग्राहक संग्रह कर के एक साथ १० प्रतियाँ मँगाया करेंगे उनको एक प्रति उपहार में दी जायगी, और जो महाशय पाँच प्रतियाँ इसी प्रकार मँगावेंगे उनको आधे देय पर एक प्रति दी जायगी।

ये महाशय भी गीतानुशीलन के सहायक माने जायेंगे।

४. गीतानुशीलन के प्रचार के लिये सर्वत्र एजेण्टों की आवश्यता है। इनके नियम अलग हैं।

५. पत्र व्यवहार में ग्राहकों को अपना पता और ग्राहक नं० (जो आवरण पत्र पर दिया रहता है) स्पष्ट लिखना चाहिये।

६. तीन महीने से अधिक काल के लिये पता बदलना हो तो सूचना देना चाहिये।

७. गीतानुशीलन का लाभांश जबलपुर अनाथालय में व्यय होगा।

८. गीतानुशीलन के संरक्षक, सहायक और एजेण्ट "अनाथालय सभा" के सदस्य हो सकेंगे।

९. जिन महाशयों को गीतानुशीलन के संरक्षक, सहायक वा एजेण्ट होंना हो अथवा इसमें विज्ञापन देना हो, वे प्रकाशक के साथ पत्र व्यवहार करें। ग्राहक होने की सूचना तथा मनीआर्डर आदि भी प्रकाशक के नाम से भेजना चाहिये।

१०. डाक व्यय और बी. पी. ग्राहकों को देना पड़ता है। जो महाशय कम से कम १) अग्रिम जमा करते जावेंगे उन को यह खर्चा न देना पड़ेगा।

गढ़ा फाटक, जबलपुर. } गणेशचन्द्र प्रामाणिक, प्रकाशक, 'गीतानुशीलन'

॥ निवेदन ॥

श्रीमत् स्वामी मायानन्दजी गीतार्थीके साथ, सं० १९८२ में मेरा परिचय हुआ था और तबसे उनके साथ श्रीमद्भगवद्गीताकी आलोचना हो रही है। स्वामीजीकी गीता विषयक व्याख्यामें प्राचीन और अर्वाचीन भावोंका अपूर्व सामंजस्य देख कर मेरी इच्छा हुई कि आपकी व्याख्या जनसाधारणमें भी प्रकाशित हो। श्रीयुत पं० मनीरामजी त्रिवेदी (जबलपुर वाटर वार्क्स इन्सपेक्टर) ने भी आग्रह किया कि गीताकी मायानन्दी व्याख्या हिन्दी भाषा में प्रकाशित की जावे। मुझे हिन्दी भाषाका यथेष्ट ज्ञान न होनेके कारण मौखिक वार्तोंको पुस्तककी भाषामें लिखना यद्यपि कठिन प्रतीत हुआ, तथापि जबलपुर निवासी कतिपय महानुभावों, यथा, तुलसीकृत रामायणके विनायकी टीकाकार साहित्यभूषण पण्डित विनायक रावजी कविनायक; पण्डित रघुनन्दनजी मिश्र; हिन्दी वैयाकरण तथा कवि पण्डित कामताप्रसादजी गुरु; हिन्दीके प्रसिद्ध समालोचक और ग्रन्थकार पण्डित गङ्गाप्रसादजी अग्निहोत्री; मध्यप्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके सहायक मंत्री पण्डित बालमुकुन्दजी त्रिपाठी; पंडित काशीप्रसादजी चौबे आदि सज्जनोंके परिश्रम और उनकी कृपासे अब मेरा कार्य बहुत सरल होगया है। आपलोगोंकी सुलक्षण सम्मति और सहायताके लिये मैं आपलोगोंका चिर कृतज्ञ रहूंगा। पण्डित गङ्गाप्रसादजी अग्निहोत्रीने गीताकी इस मायानन्दी व्याख्याका नाम "गीतानुशीलन" रख दिया और पण्डित विनायकरावजीने इसके मुद्रनकार्यके सूत्रपातमें विशेष सहायता दी है। मैं आप लोगोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूं।

गीतानुशीलनके प्रकाशन कार्यमें मेरी धनाभावकी कठिनाई मेरा रास्ता रोक कर खड़ी होगई। इस कठिनाईको सुनकर जबलपुर निवासी कुछ धार्मिक सज्जन मुझपर कृपा कर आगे बढ़े, और किसीने दान रूपसे किसीने अग्रिम चन्दा रूपसे ऐसी सहायता पहुँचाई जिससे मैं इस कठिनाईसे पार होकर गीतानुशीलनके प्रथम खण्डको मुद्रित कर जनताकी सेवामें उपस्थित कर सका। अतः हार्दिक धन्यवाद सहित दानी महाशयोंके नाम नीचे लिखता हूं।

॥ गीतानुशीलनके संरक्षकोंकी नामावलि ॥

श्रीमान दीवान बहादुर बिहारीलाल खजानचीजी जबलपुर	१०)
माननीय राय साहब पं० गोविन्दलालजी पुरोहित जबलपुर	१०)
श्रीमान सेठ हीरजी गोविन्दजी जबलपुर	१०)

श्रीयुत पण्डित छोटेलालजी भट्ट पेन्शनर (ई. ए. सी.) जबलपुर	१०)
„ पं० मनीरामजी त्रिवेदी वाटर वर्क्स इन्सपेक्टर जबलपुर	५०)
„ पं० मुकुन्दीलालजी अवस्थी बी. एन. आर. लोकोआफिस „	१०)
„ बाबू सीताराम भार्गव (भार्गव बुक कम्पनी) „	५)
„ एक गुप्त दानी ... ... „	५)
	११०)

(अग्रिम चन्दा देनेवाले सज्जनोंके नाम स्थानान्तरमें लिखे हैं।)

इस प्रकार, देशभक्ति-प्रेमी महाशयों की सहायता से **गीतानुशीलन** का जन्म तो साहित्य संसारमें हुआ पर इसका लालन पालन होकर परिवृद्धि होना पाठकोंके स्नेह पर निर्भर है; अतएव मैं गीतानुशीलनके पाठकोंसे सविनय प्रार्थना करता हूं कि वे—

(१) गीतानुशीलनके इस प्रथम खण्डको कृपया ध्यान देकर आद्योपान्त पढ़ें,

(२) यदि वे गीतानुशीलनमें कुछ भी उपादेयता पावें तो कृपाकर इसके लिये अपने इष्ट मित्रोंमेंसे कमसे कम एक नया ग्राहक बना दें (क्योंकि १००० ग्राहक संख्या हुए बिना दूसरे खण्डका प्रकाशित होना कठिन होगा)।

(३) यदि बन पड़े तो २।४ खण्डोंके लिये अग्रिम चन्दा जमा करदें।

(४) जो महाशय गीतानुशीलनकी उपयोगिता समझते हुए भी अर्थाभावके कारण इसके ग्राहक नहीं हो सकते वे ग्राहक-संग्रह कार्य-द्वारा प्रकाशककी सहायता पहुंचानेसे गीतानुशीलन पाने आदिके अधिकारी समझे जायँगे।

स्वदेश वत्सल धर्मशील उदार हृदय धनवानों एवं राजा महाराजाओंसे मेरा यह सविनय निवेदन है कि वे अपनी अपनी श्रद्धानुसार कुछ न कुछ अर्थकी सहायता देकर "गीतानुशीलन" के जीवन-रक्षक बननेकी कृपा करें।

गीतानुशीलनके प्रकाशनसे मेरे दो अभिप्राय हैं। एक तो मुझे इस कार्यसे पारिश्रमिक लेकर अपना और परिवार वर्गका भरण पोषण करना है; और दूसरे इसके लाभके अंशसे एक अनाथालय खुलवाना है।

अन्तमें मैं उन ग्रन्थकारोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिनके ग्रन्थोंसे गीतानुशीलनमें आवश्यक उद्धरण लिये गये हैं। पूजनीय पण्डित माधवरावजी सप्रेको भी मैं अनेक धन्यवाद इस लिये देता हूं कि उन्होंने "कर्मवीरमें" गीतानुशीलनका विज्ञापन बिना व्यय लिये छाप दिया।

अनुग्रहाकांक्षी,

जबलपुर } श्रीगणेशचन्द्र प्रामाणिक,

गीतानुशीलन पर कतिपय महानुभावोंकी राय।

(१)

साहित्य भूषण पण्डित विनायकरावजी कविनायक, तुलसीकृत रामायण-के प्रसिद्ध विनायकी टीकाकार, जबलपुर, लिखते हैं: –

गीताके नामसे आज तक अनुमान २१ पुस्तकें बन चुकी हैं उनमेंसे श्रीमद्-भगवद्गीताका प्रचार और प्रसार इतना अधिक है कि आजकल गीता इस नामसे श्रीमद्भगवद्गीताका ही ज्ञान होता है। यह ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि हिन्दुस्थान के अनेक मतावलम्बी बहुधा अपने ही विचारके अनुसार इसकी टीका कर चुके हैं। इसके उपदेश इतने उत्तम हैं कि विदेशी लोगोंने अपनी अपनी भाषामें इसका उल्था कर लिया है। मनुष्यको कर्तव्यशील बनाना इस ग्रन्थका मुख्य उद्देश्य दिखता है। लोकमान्य पण्डित बालगङ्गाधर तिलकने सिद्ध कर दिया है कि गीता कर्तव्य करनेकी उत्तम कार्य दर्शिका है।

सम्प्रति जबलपुर निवासी श्रीयुत गणेशचन्द्रप्रामाणिकनामक एक बङ्गाली महाशय गीतानुशीलन नामकी एक पुस्तक प्रकाशित कररहे हैं। उसका बहुतसा भाग मैंने देखा है वह सम्पूर्ण ग्रन्थका छोटासा भाग है तथापि स्थाली पुलाक न्यायसे मैं कह सकता हूं कि यह व्याख्या गीताके यथार्थ भावको दर्शाती हुई समयोचित और उपयोगी होनेके कारण उपादेय वस्तु है।

व्यक्ति द्वारा समाजकी, समाजके द्वारा देशकी और देश द्वारा राज्यकी उन्नति तथा व्यक्तिगत मुक्ति साधनका उपाय इस व्याख्या में प्रश्नोत्तरकी रीति पर समझाया गया है। महात्मा तुलसीदासजीने भी इसी प्रकारका उपदेश श्रीरामचन्द्रजी द्वारा यों दिलाया है :—

सो अनन्य अस जाहिके मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त॥ (किष्किन्धा काण्ड)

दाम थोड़े काम बहुत और लाभ विशेषपर लक्ष रखनेसे इस टीकाका जितना प्रसार और प्रचार होगा उतना ही देश और देशवासियोंका कल्याण होगा।

(२)

हिन्दीके ख्यातनामा लेखक स्वनामधन्यपण्डित गङ्गाप्रसादजी अग्नि-होत्री, जबलपुर, लिखते हैं:—

प्रिय बाबू साहब,

आपने अपने "गीतानुशीलन" की हस्त लिखित प्रतिका जिसना प्र हमारे पास अवलोकनार्थ भेजा था, उसे देख भाल कर हम लौटाते हैं। आप इस कृतिने* हमें बहुत आनन्द दिया।

भारतके धार्मिक ग्रन्थोंमें श्रीमद्भगवद्गीता सर्व प्रधान है। इस ग्रन्थ रहस्य समझानेके लिये समय समय पर विद्वान लोग इस पर टीका टिप्पणि लिख आये हैं। अपनी अपनी समझ और अपने अपने समयके अनुकूल ही प्र टीकाकार टीकायें लिखा करते हैं। गीताके टीकाकारोंने भी इसी नियमानुस अपनी अपनी टीकायें लिखीं हैं। ग्रन्थकार किसी एक विशेष उद्देश्यको ले अपना ग्रन्थ लिखता है। अपने उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये वह बहुतसे ग्रन्थो प्रमाण भी देता है। टीकाकारका काम है कि वह अपनी टीका द्वारा ग्रन्थका के उसी विशेष उद्देश्यको स्पष्ट करदे कि जिसको लेकर उसने अपना ग्रन्थ लिख है। टीकाकारका यह काम नहीं है कि मूल ग्रन्थमें दिये हुए सहायक प्रमाणों लेकर उनकी ही टीका और महत्ता लिखनेमें अपनी टीका शेष करदें।

अर्जुन अपना कर्त्तव्यकर्म करनेके लिये हिचकता था। उसे अपने कर्त्तव्य कर्म महत्व समझा देनेके लिये ही परमात्मा श्रीकृष्णने गीता कही है। कर्त्तव्य कर्म महिमाका गुणगान करते हुए अठारह अध्यायके ४६ वें मंत्रमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥"

अर्थात् जिस ईश्वरने इस संसारको उत्पन्न किया है, जो ईश्वर इ संसारमें व्याप्त हो रहा है, उसकी, निज कर्त्तव्य कर्म पालन स्वरूप सामग्रीसे, पूज करके मनुष्य अपने अभीष्टार्थको प्राप्त करता है। तात्पर्य्य, गीता शास्त्रमें सयुक्ति तथा प्रबल प्रमाणों द्वारा कर्त्तव्य कर्मकी आवश्यकता और श्रेष्ठताका महत्व सम झाने का प्रयास किया गया है।

हमें यह देख कर परम सन्तोष होता है कि आपका "अनुशीलन" गीता उद्देश्य पर यथेष्ट प्रकाश पहुंचानेका यत्न कर रहा है। इसे शीघ्र प्रकाशित करनेक यत्न कीजिये। इसके पाठसे जनताको बहुत लाभ होनेकी संभावना है। इस समाज-सेवाके विषयमें जो बातें लिखी गई हैं वे बहुत उत्तम हैं। उनका बोध स साधारणको अवश्य होना चाहिये। इसकी ग्राहक श्रेणीमें हमारा नाम भी लिख लीजिये।

---

* कृति—स्वामी मायानन्दजीकी है।

निवेदन ।

आठ महीनों के बाद गीतानुशीलन का दूसरा खण्ड लेकर मैं आप लोगों की सेवा में पुनः उपस्थित हो सका। दूसरे खण्ड की छपाई के लिए इतना विलम्ब धन संग्रह करने में हुआ। यदि आप लोग चाहें कि गीतानुशीलन शीघ्र छपकर निकला करे तो पहिले खण्ड के निवेदन में जो प्रार्थना मैंने आप लोगों से की है उस पर ध्यान दीजिये।

(१) निम्न लिखित उदार हृदय सज्जनों ने गीतानुशीलन के संरक्षक होना स्वीकार कर निम्न लिखित रकम इसकी सहायतार्थ दान दी है, जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूं।

श्रीयुत ठाकुर व्रजमोहनसिंह फौजदार मालगुजार देवी सुरैया पाटन	.... ५)
दीवान बहादुर श्रीमान सेठ जीवनदास जी श्रीमान बाबू गोविन्ददासजी जबलपुर	१०)
(आपने प्रत्येक खण्ड पर १०) देना स्वीकार किया है)	
श्रीमान सेठ गुलाबचन्द कपूरचन्द जी चौधरी जबलपुर	...२१)
माननीय श्रीयुत ब्योहार रघुवीर सिंहजी जबलपुर	...१०)
श्रीयुत बाबू एस. डी. गौर सुपरवाइजर जी. आई. पी. नासिक	... ५)
(आपने २५) पांच किश्त में देना स्वीकार किया है)	——
कुल	...५१)

(२) निम्न लिखित महाशयों को गीतानुशीलन के ग्राहक संग्रह करने के लिये मैं धन्यवाद देता हूं—

श्रीयुत रामकृष्ण अग्रवाल	जबलपुर	श्रीयुत सिद्धावर दास	जबलपुर
,, मुकुन्दीलाल अवस्थी	,,	,, शिवरतन लाल	,,
,, कस्तूरचन्द जी वकील	,,	,, फकीरचन्द दिक्षित	,,
,, अयोध्या प्रसाद मिश्र	,,	,, ठाकुर सरदार सिंह	,,
,, गणेश प्रसाद चौबे	,,	,, झब्बूलाल जी	,,

मुन्सी अबदुल करीम	जबलपुर	श्रीयुत रघुनाथ वासुदेव भिडे	जबलपुर
श्रीयुत लाला बाला प्रसाद	,,	,, बाबू गौरी शंकर	,,
,, गंगा प्रसाद जी शुक्ल	,,	,, सुन्दर लाल शर्मा	,,
,, बसन्त लाल दिक्षित	इटारसी	,, गोकुल प्रसाद	नरसिंहपुर
,, ठाकुर लाल सिंह	चांदा	श्रीयुत अनन्तराम ज्योतिषि	डेराइस्मायलखां
,, विश्वेश्वर दयाल	,,	,, भैयालाल भार्गव	सिहोरा
,, देवी चरन दास	इलाहाबाद	,, लाला लल्लू लाल जी	टिकरिया

---

(३) "गीतानुशीलन" प्रथमखण्ड के आय व्यय का लेखा

दान से प्राप्त		खर्च	
श्रीयुत मनीराम जी त्रिवेदी	....३)	दफ्तर खर्च १९१८-१९१९ तक	....७५)
,, सेठ कपूरचन्द चौधरी	....१९)	पुस्तक खरीद	....७।।।=)
,, गणेशचन्द्र प्रामाणिक	....५७।)		
		दफ्तर खर्च १९२० ई० में	....४९)३
प्रथम खण्ड में स्वीकृत किया हुआ दान	११०)	प्रथम खण्ड का खर्चः—	
,, अग्रिम चन्दा	....४७)	कागज	....९४।=)३
दफ्तर खर्च खाते जमा	....४४≡)	छपाई बंधाई	....७३=)
श्रीयुत पं० बाल मुकुन्द जी त्रिपाठी का जमा	....२०)	दफ्तर खर्च	....४४≡)
		विज्ञापन खाते	....१२)
उधार	...१५०=)६	लेखकको पुरस्कार	..८७।=)
		दीगर खर्च	... ७।)
		कुल	३१८ –)३
		पेशगी खाते पावना....	।=)
कुल मिजान....	४५०।।–)६	कुल मिजान....	४५०।।–)६

गीतानुशीलन प्रथम खण्ड की बिक्री का लेखा।

गीतानुशीलन प्रथम खण्ड...९९९	—३१८।-)३	बिक्री	४८६ प्र०
पेकिंग और डांक व्यय	११॥।-)९	प्रसिद्ध के लिए बांटा	१११ ,,
		बाकी जमा ...	४०२ ,,
		कुल....	९९९ ,,

नगदी वसुल		....१३९)।
संरक्षों के दान खाते मुजरा....	....६॥।=)॥	
बाहरी चन्दा खाते मुजरा	...३॥≡)॥	
जबलपुर अग्रिम खाते मुजरा...	...१८॥=)	
		कुल...२९)
		कुल मीज़ान १६८)।

लाभ	३८॥-)९	पावना—	
(शेष प्रतियां बिकने पर और उधारी वसूल होने पर यह लाभ की रकम जबलपुर अनाथालय और जबलपुर राष्ट्रीय विद्यालय को बांट दी जायगी)		जबलपुर उधारी खाते....	२१॥=)
		बाहरी उधारी खाते	१४॥।)॥
			३६।=)॥
		बाकी ४०२ प्रतियों का मूल्य	१६४=)
	कुल३६८॥।)॥।		३६८॥।)॥।

नोट:— संरक्षकों को ।=) प्रति और अग्रिम चन्दा देने वालों को ।=)। प्रति दर से मुजरा दिया।

(४) पाठकों से पुनः प्रार्थना करता हूं कि वे इस दूसरे खण्ड को ध्यान देकर पढ़ें और यदि गीतानुशीलन की उपयोगिता उन्हें कुछ भी जान पड़े तो कृपया इसकी ग्राहक संख्या बढ़ाने की चेष्टा करें। उपक्रमणिका अध्याय के समाप्त होने पर श्री गीता के मंत्रों की व्याख्या का अवसर आवेगा। किन्तु कम से कम १००० ग्राहक संख्या हुए बिना इसके पूर्ण होने की सम्भावना नहीं दिखती। मैं वृद्ध हूं

यदि आप लोगों से समय रहते उचित सहायता न मिली तो सम्भव है कि श्री गीता पर मायानन्द जी के विचार जो कि श्री गीता के यथार्थ मर्म (सत्य सिद्धान्त) के प्रकाश करने वाले हैं, मेरे साथ ही विलीन हो जायँगे।

(५) जो गीता प्रेमी अर्थाभाव के कारण गीतानुशीलन के ग्राहक नहीं बन सकते किन्तु गीतानुशीलन में प्रकाशित गीता धर्म के प्रचार करने का उत्साह रखते हैं उनको गीतानुशीलन बिना मूल्य दिया जा सकता है यदि वे इस बात का विश्वास दिला सकें कि वे अपने अपढ़ पड़ोसियों को गीतानुशीलन पढ़कर सुनाया और समझाया करेंगे। ऐसे प्रार्थियों की संख्या अभी २० से अधिक न होना चाहिये।

।जबलपुर अनाथालय।

परमात्मा की प्रेरणा से और श्रीमान बाबू गोविन्ददास जी के उद्योग से एवं श्रीयुत सेठ मोहनलाल हरगोविन्द दिवेवाले के उत्साह से और जबलपुर के दानशील धनीमानी सेठ साहूकारों की एवं जनता की सहायता से जबलपुर में अनाथालय गत माह दिसेम्बर से खुल गया है। गीतानुशीलन के पाठकों को चाहिये कि वे भी इस पुण्य कार्य्य में हाथ बटावें।

इस अनाथालय के लिये गीतानुशीलन के ग्राहकों से गीतानुशीलन दफ्तर में इस प्रकार दान मिला है। ये रकमें गीतानुशीलन के आवरण पत्र की सूचना पर मिले थे जब अनाथालय के खुलने का कोई निश्चय न था।

श्रीयुत फतेहचन्द जी डि० इ० आफ स्कूल्स जबलपुर— .... १)
श्रीयुत शुकुमार चेटर्जी मढ़ाताल जबलपुर .... ५)

कुल .... ६)

जबलपुर
ता० १८।४।१९२१ ई०

आप लोगों का विनीत सेवक
गणेशचन्द्र प्रामाणिक,
प्रकाशक।

निवेदन।

तीन वर्ष और चार महिनेके बाद आज गीतानुशीलनका तीसरा खण्ड लेकर मैं आप लोगोंकी सेवामें पुनः उपस्थित होता हूँ। इस सुदीर्घ विलम्बका मुख्य कारण अर्थाभाव था। प्रथम खण्डकी बिक्री की आयसे दूसरा खण्ड छपा था। यद्यपि प्रथम खण्डको पढ़कर पाठकोंने उसकी प्रशंसा करके मुझे उत्साहित किया था, परन्तु जब उनके पास दूसरे खण्डकी वी० पी० भेजी गई तब उन्होंने उसे वापिस कर दीं! इसी कारण हतोत्साह होकर शेष ग्राहकोंको—जिनका अग्रिम चन्दा जमा नहीं था—वी० पी० नहीं भेजी गई। अधिकांश वी० पी० लौटानेका मुख्य कारण यह होगा कि पाठकोंने समझा हो कि जब अर्थाभाव ही है तब गीतानुशीलन बराबर कैसे प्रकाशित होगा। सुतरां उन्होंने अपना हाथ खींचकर ईसामसीहके इस वाक्यको चरितार्थ किया कि "जिसके पास धन है उसको ओर भी दिया जायगा और जिसके पास नहीं है उसके पास जो कुछ है वह भी ले लिया जायगा"!

अर्थाभावके कारण गीतानुशीलनका प्रकाशन और भी कुछ दिनों तक रुका रहता, यदि राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर जबलपुरके उदार सञ्चालकगण इसकी सहायतामें अग्रसर न होते। उन्होंने कृपाकर राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की देख रेखमें गीतानुशीलनको प्रकाशित करना स्वीकार किया है। अतः अबसे गीतानुशीलन वर्षमें चार बार अवश्य प्रकाशित होगा। इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं रही। अस्तु, अब पाठकगण निश्चिन्त होकर इसके ग्राहक हो सकते हैं। सर्व साधारण की सुविधाके लिए वार्षिक चन्दा २) रखा गया है।

गीतानुशीलनके ग्राहकों का लेखा

	स्थानीय		बाहरी
दान दाता	१६	...	३
अग्रिम चन्दा दाता ...	४३	...	७५
फुटकर ग्राहक	४३	...	५६
जिन्होंने केवल प्रथम खण्ड लिया है	१५१	...	९८
	२५३		२३२

कुल...४८५

प्रार्थना।

यदि प्रत्येक फुटकर (अस्थायी) ग्राहक अग्रिम चन्दा २) देकर स्थायी ग्राहक हो जाँय और गीतानुशीलनके प्रत्येक स्थायी ग्राहक अपने मित्रों से एक एक दो दो ग्राहक बना सकें तो अति शीघ्र १००० ग्राहक हो सकते हैं जिससे वार्षिक २०००) की आय होकर गीतानुशीलन वर्षमें ४ बार अनायास निकल सकता है।

वर्षमें २) देने की सामर्थ्य रहते हुए भी जो महाशय अपने मित्रोंसे मांगकर गीतानुशीलन पढ़ते हैं उन्हें इसका विचार करना चाहिये कि अर्थाभावसे गीतानुशीलनका प्रकाशन बन्द होना हिन्दी साहित्यके लिये कितने खेद की बात होगी। उन्हें यह भी समझ लेना चाहिये कि श्रीगीताके सदृश सर्वमान्य ग्रन्थके एक सच्चे भाष्यका, प्रत्येक हिन्दू गृहस्थके घरमें रहना कितना आवश्यक है।

हिन्दी पुस्तकोंके पढ़नेवाले लाखों पाठकों में यह कोई असम्भव बात नहीं कि १००० पाठक ऐसे न हों जिन्हें धार्मिक विषय की जिज्ञासा होते हुए २) वार्षिक चन्दा देने की सामर्थ्य न हो। एक हज़ार की कौन कहे कई हज़ार ऐसे ग्राहक संग्रह किये जा सकते थे यदि भड़कीले विज्ञापन दिये जाते और अर्थाभाव की बात प्रकाशित न की जाती।

जिन महाशयोंको गीतानुशीलन की उपयोगिता समझमें आ गई है उनसे मेरा नम्र निवेदन है—कि मेरी ढलती उमर है, इसलिये यदि आप लोग चाहते हों कि श्रीगीताके विषयमें जो कुछ ज्ञान मैं श्री स्वामी मायानन्दजी से संग्रह कर सका हूँ उसको हिन्दीके साहित्य भण्डारमें पुस्तकाकारमें शीघ्र स्थान प्राप्त हो जाय तो ऐसा प्रयत्न करें कि शीघ्र ही इसके ४००० ग्राहक हो जाँय। जिससे यह बृहत् ग्रन्थ प्रतिमासमें प्रकाशित होकर, मेरा जीवन शेष रहते रहते समाप्त हो जाय।

गीतानुशीलनके संरक्षक गण।

निम्नलिखित उदार हृदय सज्जनोंने निम्नलिखित सहायता दी है—

(१०) दीवान बहा० श्रीमान सेठ जीवनदासजी श्रीमान बाबू गोविन्ददास जी, जबलपुर ... ... १०)

(११) श्रीयुत पण्डित मनोहर कृष्ण गोलवलकर बी. ए. एल. एल. बी वकील जबलपुर (आपने प्रत्येक खण्ड पर १) देना स्वीकार किया है) ... ... १)

(१२) श्रीमान पण्डित रघुनाथराव आबा साहिब राजा सागर जबलपुर ५)

(१३)	श्रीयुत पं० महावीर प्रसादजी पाँडे बया निमाड़गंज जबलपुर	५)
(१४)	,, डा० रघुनाथप्रसादजी	१०)
(१५)	,, शिवसिंहजी चन्द्रसिंहजी आड़ेजा, बेला रंगपुर, मोरवी, काठियावाड़	५)
(१६)	श्रीयुत डा० हरनामदास बाबाजी, होली दरवाजा, मथुरा ...	१८॥)
(१७)	,, पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, सहकारी मंत्री जबलपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन	३५)
		८६॥)

गीतानुशीलन के सहायक गण।

गीतानुशीलन के ग्राहक संग्रह द्वारा सहायता पहुँचाने के लिये मैं निम्न लिखित महाशयों को धन्यवाद देता हूँ—

श्रीयुत शिवसिंहजी चन्द्रसिंहजी आड़ेजा बेला रंगपुर मोरवी।
,, पण्डित राजेन्द्र नारायण जी मिश्र, भवानीपुर, डगमारा, भागलपुर।
,, ,, महेशानन्द थपल्याल, लान्सडौन, गढ़वाल।

उपकार स्वीकार।

(१) इस खण्ड की भाषा के संशोधन और प्रूफ के देखने में पं० गंगाविष्णुजी पाण्डेय संस्कृताध्यापक हितकारिणी स्कूल, जबलपुर ने यथेष्ट सहायता दी है। उन्हें धन्यवाद।

(२) इस खण्ड में जहाँकहीं अन्य ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं उन ग्रन्थकारों को धन्यवाद देता हूँ।

गीतानुशीलन के प्रकाशन में आय-व्यय का लेखा।

(आरम्भ से जुलाई १९२४ ई० तक)

आय		व्यय	
दान से ...	३२०॥)	गीतानुशीलनके दो खण्डों के प्रकाशन में खर्च ...	६७२।≠)॥
अग्रिम चन्दा से ...	२२६॥≋)॥	गी० नु० तीसरे खण्ड के नामें	१२१॥।-)।
सूद से ...	६॥≠)	सामान खाते जमा ...	२६।≠)
गीतानुशीलन की नगदी बिक्री ...	२३१।-)।	जबलपुर अनाथालयको दान	३१॥)

गी० नु० उधारी बिक्री ...	३७॥।≠)॥	उधारी पावना ...	२१।≠)॥
देना ...	१८७॥≠)॥		
		...	८७३॥।)।
		जबलपुर अनाथालय खाते जमा	५६।)॥
		राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर में जमा	८४)
		रोकड़ बाकी	१४०।)॥
	१०१४)॥।		१०१४)॥।

गीतानुशीलन खाते देना--पावना ।

देना		पावना	
दान दाताओं का	२७२)।	प्रथम ख० १११, दूसर ख० १११ खर्च बिक्री, भेट, समालोचना, दीमक ... ७७८ ... ४३६	
अग्रिम चन्दा का	१६१-)	बाकी जमा २२१ ... ५६० मूल्य	२६२।-)
गणेशचन्द्र प्रामाणिक का	१८७॥।≠)॥	जमा-पुस्तक और सामान खाते ...	२६।≠)
		तीसरे खण्ड के नामे ...	१२१॥।-)।
		उधारी खाते पावना ...	२१।≠)॥
		रोकड़ बाकी ...	१४०।)॥
			५७२≢)।
		हानि ...	४८॥।)॥
	६२०॥≢)॥।		६२०॥≢)॥।

जबलपुर
ता: १८ अगस्त १९२४

सेवक
गणेशचंद्र प्रामाणिक

जबलपुर अनाथालय।

श्री जबलपुर अनाथालय का सन् १६२३ ई० का विवरण।

(१) एककालीन दान—दान की स्वीकृत रकम १५३०६॥।)। में २८८७।) अभी तक वसूल होनेको बाकी हैं। शेष १२४१६॥)। में, स्थायी कोष में जमा है ६५०७), पं० राधिकाप्रसादजी पाठक से चन्दा वसूली मध्ये पावना है १२२), अनाथालयके सामान आदि में लगा है ४१६।)८$\frac{1}{2}$ और प्रथम दो वर्षों में अनाथालय के खर्च खाते खर्च हुआ है २२६४) ६$\frac{1}{2}$,

(२) मासिक चन्दा, सूद और फुटकर दानसे इस वर्ष आय हुई २७१७।-)२$\frac{1}{2}$ और अनाथों के खर्च खाते खर्च हुआ १८७६॥।-)१$\frac{1}{2}$ + स्थायी सामान की झड़ती पड़ती ४३।)४$\frac{1}{2}$ = १६२०-)॥ शेष बचत में रहा है ७६७)८$\frac{1}{2}$। इस साल एककालीन दान की रकम से कुछ खर्च नहीं हुआ।

(३) अनाथों का लेखा—गत साल के २७, इस साल भर्ती हुए ४२ कुल ६९ जिसमें चले गये ४८ शेष बचे २१
वर्ष के अन्त में जो मौजूद हैं—बालक ६. किशोर १. युवक असमर्थ २. वृद्ध १. बच्ची १. बालिका ६. वृद्धा १. कुल, २१.

(४) इस साल कहार, काछी, कोष्टार, कोरी, खंगार, चमार, तेली, धोबी, नाऊ, बानिया, ब्राह्मण, लाला, अहीर, बढ़ई, छत्री, कोल, कुरमी, बेड़िया, बैरागी, गोंड़, पटवा, हलवाई, सोनार, और लोधी इतने जात के अनाथों का पालन हुआ।

(५) ये सब अनाथ जिन जिलों के रहने वाले हैं उनके नाम ये हैं—रीवां, सोहावल, मैहर, अजयगढ़, बरौरा, जौनपुर, नरसिंहपुर, झांसी, सागर, रायपुर, जबलपुर।

(६) अर्थाभाव और स्थानाभाव के कारण आज तक अनाथों के लिये कोई उद्योग धन्धा निश्चित नहीं हो सका है तथापि इन तीन वर्षों में उन्होंने ५१६) की पूँजी एकट्ठी की है, जिसके साथ अनाथालय को पूँजी का कोई सम्बन्ध नहीं है। अनाथों का कमाई खाता स्वतन्त्र है और इसी पूँजी से यथा सम्भव उद्योग धन्धा होता है।

(१०) अनाथों की शिक्षा—लड़के लड़की दोनों स्कूल में पढ़ते हैं।

(११) अनाथालय की उन्नति के उपाय—शहर के बाहर जब तक अनाथालय के

लिये १०-२० बीघा ज़मीन न मिलेगी तब तक अनाथालय की उन्नति न हो सकेगी। मासिक २२५) की अनिश्चित आमदनीके भरोसे अनाथों की संख्या बढ़ाई नहीं जा सकती। अनाथों की संख्या तभी बढ़ाई जा सकती है जब उनसे कुछ काम लेकर आय भी बढ़ाई जावे। ज़मीन की सेवा एक ऐसा काम है जिसमें सरलता से सभी काम कर सकते हैं। इसलिये अनाथालय की उन्नति में प्रथम आवश्यकता जमीन की है।

(१२) अनाथों का स्वास्थ्य—२८६ की जन संख्या में ६६ बीमार हुए, जिनमें ६२ अच्छे हुए ७ अस्पताल भेजे गये २ की मृत्यु हुई। बीमारी की अधिकता से भी शहरके बाहर अनाथालयके स्थान की आवश्यकता जान पड़ती है।

(१३) जिन महाशयोंने एककालीन दान की रकम अभी तक नहीं दी है उनसे निवेदन है कि अनाथालय अब स्थायी हो चुका है अब वे कृपाकर अपना देय अदा कर देवें।

गोपालबाग	**सेवक**
जबलपुर	**गणेशचन्द्र प्रामाणिक**
२६-४-१९२४ ई०	**मन्त्री**



उद्घाटिका ।

अखंड मंडलाकारम् व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत् पदम् दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

(श्री मायानन्द गीतार्थी और गणेशचन्द्र मामाणिक-संवाद)

गणेशचन्द्र—(आये हुए सन्यासीजीका परिचय* पाकर) मेरा यह परम सौभाग्य है कि मुझ गरीबके घर आपका पदार्पण हुआ ।

स्वामी मायानन्दजी—आपका यह विनीत वचन भद्र पुरुषोंके योग्य ही है। (हंसमुखसे) मुझे दीखता है कि मेरे आगमनसे, सौभाग्यके बदले आपके भाग्यमें कुछ व्यय और कायिक कष्टका उदय हुआ ।

गणेश—यह सत्य है कि आपके अवस्थानसे मेरा कुछ अर्थ-व्यय अवश्य होगा। परन्तु आपके सत्सङ्ग से जिस वस्तुकी प्राप्ति होगी उससे व्यय निकाल कर भी मुझे बहुत कुछ लाभ होगा ।

मायानन्दजी—सो किस तरह ?

गणेश—मैंने सुना है कि आपकी पदवी गीतार्थी है, अतएव यदि आप कृपा कर मुझे श्रीमद्भगवद्गीताका अर्थ यथावसर समझाते रहेंगे तो मैं मानूंगा कि थोड़े खर्चसे मुझे परम लाभ हो रहा है और इससे मुझे परम सन्तोष होगा ।

मायानन्दजी—(यह जानकर कि जिज्ञासु पुस्तककी दुकानमें नौकरी करता है) आपको नफा नुकसानका अच्छा ज्ञान होगया है तो भी मेरे विषयमें आप भूलते हैं। मैं गीतार्थी अवश्य हूं, पर "गीतार्थी" का अर्थ "गीताचार्य" नहीं, उसका अर्थ तो गीता समझनेका अभिलाषी है। जैसे "विद्यार्थी" का अर्थ विद्या सीखनेका अभिलाषी है ।

---

* बाराहनगर—कलकत्ता दक्षिणेश्वर-काली-बाड़ीके पवित्र ...

गणेश—मैंने अब तक कभी पचास साठ वर्षका बूढ़ा विद्यार्थी नहीं देखा था, इस लिये गीतार्थी शब्दसे मैंने गीताचार्य ही समझा था। अस्तु। आप अपनी समझसे गीतार्थी होतेहुए भी मेरे लिये गीताचार्य ही हैं। जैसे कोई उच्च कक्षाका विद्यार्थी निम्न कक्षाके विद्यार्थियोंके लिये शिक्षकका काम कर सकता है, वैसे ही आप मेरे लिये हैं। आपने गीताके उपदेशोंको जैसा सीखा और समझा है वैसा ही यदि मुझे भी समझा देवें तो मैं अपनेको परम लाभवान जानूंगा।

मायानन्दजी—किसीको गीताका ज्ञान देना मेरी शक्तिके बाहर है। मेरा ऐसा विश्वास है कि जो कोई भी किसी विषयको समझता है वह उसे अपने ही गुणसे समझता है। उपदेशक तो विषयका सूचक मात्र है। और भगवत्तत्त्व बिना भगवत्कृपाके न कोई समझ सकता है और न किसीको समझा ही सकता है

गणेश—क्षमा कीजियेगा, आपके इस विश्वासके प्रथम अंशसे मैं सहमत नहीं हो सकता; क्योंकि विद्वान अनादिकालसे साधारण जन समाजको धर्म-तत्त्वका उपदेश देते चले आ रहे हैं। यदि वे अपना उपदेश लोगोंको न समझा सकते तो उनकी यह उपदेश-चेष्टा कभीकी बन्द हो गई होती, परन्तु जब विद्वानोंके द्वारा धर्म-व्याख्याएँ उत्तरोत्तर प्रचारित होती जाती हैं, तब इससे यही जाना जाता है कि विद्वानोंके द्वारा अविद्वान लोग भी धर्म-तत्त्वके ज्ञाता होते जाते हैं।

मायानन्दजी—इससे भी तो यही जाना जाता है कि बहुतेरे लोगोंमें यह गुण स्वाभाविक ही रहता है कि वे विद्वानोंके उपदेशोंको समझते हैं। इसीसे उपदेशोंके ग्रहण करनेवालोंकी अधिकताके कारण धर्म-तत्त्वकी व्याख्यायें भी उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित होती जाती हैं।

"समझना" और "समझानेका" अर्थ क्रमशः स्वयम् अनुभव करना और अन्यको अनुभव करादेना है। किसी विषयको सुनते ही अनुभव करलेना अथवा वाक्यों द्वारा किसी विषयका दूसरेको अनुभव करादेना; ये दो शक्तियां, मनुष्योंमें, नैसर्गिक दर्शन, श्रवण, कथनादि शक्तियोंके अन्तर्गत हैं, अथवा अनुभव करने या करानेके लिये किसी

दीजिये। इस सम्बन्धमें मुझे कोई संशय नहीं है। मेरा तो यह विश्वास है कि ज्ञानी तथा विद्वान महात्मा लोग मुझ सरीखे अज्ञानी और मूर्खको कोई भी विषय हृदयङ्गम करादे सकते हैं। अतएव आपसे इस दासकी यही प्रार्थना है कि कुछ काल यहां रहकर आप मुझे गीता की व्याख्या सुनावें*।

मायानन्दजी—यद्यपि तुम्हारी प्रार्थना पूर्ण करना मुझे कठिन दीख पड़ता है; क्योंकि मुझमें महात्माओंकी सी शक्ति नहीं है, तथापि तुम्हारा अत्यन्त आग्रह देखकर और यह जानकर कि जिज्ञासुके साथ श्रीगीताका अनुशीलन करना अपना धर्म है, जैसा कुछ श्रीगीताका अर्थ मैंने श्री गुरुदेवकी कृपासे जाना है, तुम्हें सुनानेका साहस करूंगा।

गणेश—जैसी इच्छा। मुझे तो श्रीमद्भगवद्गीता सुनना है और समझना है, आप चाहे जिस विचारसे सुनावें और समझावें।

मायानन्दजी—जब तुमको गीता सुननेका ऐसा प्रेम है, तो आओ हम तुम, एक नियम कर लेवें। श्रीगीताके श्लोकों को—जिनको हम मंत्र मानते हैं, क्योंकि इसके एक एक श्लोकमें मनको भवबन्धनसे तारनेकी शक्ति है—व्याख्याके अवसर पर जहाँ तक तुमको सन्देह और जिज्ञासा हो निःसङ्कोच होकर प्रश्न करते जाना। पर इस सम्मतिसे ऐसा मत समझ लेना कि हम तुम्हारी प्रत्येक शंका, सन्देहादिका समाधान करने की प्रतिज्ञा करते हैं। हम तो तुम्हें वैसाही उत्तर देंगे जैसी प्रेरणा हमारी बुद्धिमें

---

* यह स्वाभाविक नियम है कि बुद्धि अपने पूर्वके किसी जाने हुए विषयके ज्ञान द्वारा परवर्ती तादृश विषयका ज्ञान लाभ करती है। सादृश्य में कुछ भेद होने पर भी उस विषयकी ज्ञान प्राप्तिमें बुद्धिको बाधा नहीं होती। यथा; पंखके बलसे उड़नेवाले प्राणीको 'पक्षी' कहते हैं यह जानकर किसी पंख-विशिष्ट प्राणीको उड़ते न देखकर भी बुद्धि उसको पक्षी मानलेती है। जैसे—काकादि उड़नेवाले और कुक्कुटादि न उड़नेवाले प्राणी पक्षी मानेजाते हैं। बुद्धिमें ऐसा गुण होने के कारण उसे, पहलेसे न जाने हुए किसी भी विषयकी बारंबार आलोचनासे उस विषय का ज्ञान होजाता है। कहा है—

होगी। इस नियमसे हमारा यह अभिप्राय है कि हम तुम मिलकर शास्त्रों-की सहायतासे श्रीगीताके कठिन विषयोंका अनुशीलन करें।

गणेश—आपकी जैसी इच्छा हो। मैं तो सब प्रकार सहमत हूं। मैं भी यही चाहता हूं कि पूछ पूछ कर आपसे गीता समझूं; क्योंकि श्रीमद्भगवद्-गीताकी जितनी टीकायें भाषामें मैंने देखी हैं, वे सब संक्षेपमें होने-के कारण उनसे जिज्ञासुके मनकी जिज्ञासारूपी प्यास शान्त नहीं होती।

॥ ॐ ॥

॥ गीतानुशीलन ॥

तदेकं स्मरामि तदेकं भजामि तदेकं जगत् साक्षि रूपं नमामि।
सदेकं निधानं निरालम्ब मीशं भवाम्बोधि पोतं शरण्यं व्रजामि ॥

॥ उपक्रमणिकाध्याय ॥

मायानन्द—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।"
"स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।"
"यतःप्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।"
"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥"

श्री गीताके माहात्म्यका कारण

श्री भगवान वासुदेवने श्रीगीताके १८ वें अध्यायके उपरोक्त ४५। ४६ वें श्लोकोंके रूपमें जो मंत्र कहा है वही मंत्र गीताका सार है। इसी मंत्रके कारण गीताका माहात्म्य है। इसी मंत्रको संसारमें प्रचार करनेके लिये भगवानका अवतार हुआ था। मानवी संसारको धीरज, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देनेकी प्रतिज्ञाके रूपमें भगवान्ने यह मंत्र कहा है।

श्रीगीतामें यही एक मंत्र है जो गीता धर्मकी 'प्रतिज्ञा' है; उसका सिद्धान्त है, किंबहुना उसका प्रतिपाद्य विषय भी यही है। इसका प्रतिपादन करनेके लिये ही सारी गीता कही गई है।

पृथ्वी आदि ग्रह उपग्रह, जैसे सूर्यके सम्बन्धसे, सूर्यको लक्ष्यमें रखते हुए उसकी परिक्रमा करते रहते हैं [illegible]

गीताके शेष सब मंत्र अपनी अपनी अनुपम ज्योतिसे इस मंत्र विहित प्रतिज्ञाकी, जोकि परमात्माने वासुदेव रूपमें मनुष्योंसे की थी, सत्यताको उद्भासित करते हैं।

इन मन्त्रों का तात्पर्य यह है :—

समाजके अनुकूल जीविकाके निर्वाह योग्य अपने अपने कर्मोंमें लगे हुए भी मनुष्य मात्र, यदि अपने अपने कर्मों का प्रयोग, परमात्माकी सेवा-बुद्धिसे, समाजमें* करते रहें, तो चतुर्वर्ग नाम संपूर्ण सिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं।

गणेश—श्री गीताके १८ वें अध्यायके उक्त ४५।४६ वें श्लोकोंकी जैसी बड़ाई आपने की, उसे सुनकर मुझे बड़ा कौतूहल होता है। मैंने गीताकी जितनी टीकायें देखी हैं, किसी में इन श्लोकोंका न ऐसा माहात्म्य कहा गया है और न ऐसा अर्थ ही किया गया है, जैसा आप बताते हैं।

मायानन्द—मैं बहुत प्रसन्न हुआ कि तुमने अपने सन्देहको इस तरह निःसङ्कोच होकर प्रगट किया। तुम में ऐसी जिज्ञासावृत्ति देखकर मुझे आशा होती है कि तुम्हारे साथ गीताका अनुशीलन करना लाभकारी होगा।

गणेश—आप सरीखे महात्माओंमें ही यह गुण देखा जाता है कि वे सदोषको भी निर्दोष बनालेते हैं। औरकोई होता तो मेरे इस सन्देह-वाद को प्रति-वाद समझकर असन्तुष्ट होता।

मायानन्द—मैं भी सचेत होगया। आगे प्रशंसा न तो की जायगी और न सुनी ही जायगी। अब तुम किसी एक टीका से गीताके इस मंत्रका अर्थ और टीका पढ़कर सुनाओ।

गणेश—यह गीताकी एक बङ्गला टीका है। इसमें उक्त श्लोकोंका अन्वय, अर्थ और टीका यों लिखी गयी है:—

"स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः (निष्ठावान्) नरः संसिद्धिं लभते,
स्वकर्मनिरतः यथा सिद्धिं विन्दति तत् शृणु ॥ ४५ ॥
यतः भूतानां प्रवृत्तिः (चेष्टा) येन इदं सर्वं ततं (व्याप्तम्), मानवः स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति ॥ ४६ ॥"

अर्थ (हिंदी अनुवाद)

"अपने अपने कर्मों में निष्ठा रखनेवाले मनुष्य सिद्धिलाभ करते हैं। स्वकर्म निरत व्यक्ति जिस तरह सिद्धिलाभ करता है सो सुनो। जिस कारके मनुष्य में प्रवृत्ति अर्थात चेष्टा उत्पन्न होती है और जिससे संपूर्ण विश्व व्याप्त है उसकी, मनुष्य अपने अपने कर्मों से अर्चना करके सिद्धि प्राप्त करता है।"

टीका (हिंदी अनुवाद)

"गुण भेदसे जो व्यक्ति जिस कार्यका अधिकारी है, वह सद्गुरुसे अधिकारके अनुरूप उपदेशको पाकर उसीका पालन क्रमशः करते रहनेसे सिद्धिको प्राप्त करता है। जिस कर्मसे आत्मज्ञान होता है वही स्वकर्म है। त्रिगुणातीत होनेका उपाय सद्गुरु बता देता है। वही आत्म-कर्म है। अधिकारीके भेदसे साधकोंके लिये वे उपाय भिन्न भिन्न हैं। उस आत्म-कर्मके द्वारा (ईश्वरकी) अर्चना करके साधक क्रमशः उन्नति और सिद्धि प्राप्त करता है।"

मायानन्द—इस टीकाकारने मंत्रका जो शब्दार्थ लिखा है वह ठीक है। मैंने उसीका भावार्थ व्यावहारिक भाषामें कहा है, परन्तु टीकासे प्रकट होता है कि टीकाकार प्राणायाम या हठ-योगका पक्षपाती है। अब विचारना चाहिये कि ऐसी योग-क्रियाका साधन, जो मनुष्य मात्रके लिये सुसाध्य नहीं है, बतलाने के लिये, परमात्माका अवतार लेना युक्ति-युक्त है या नहीं? भगवान् वासुदेवके आविर्भावके बहुत काल पूर्वसे ही योग मार्ग प्रचलित था। अतएव प्रचलित बातों के बतलानेमें ही गीता का माहात्म्य तथा गौरव न समझना चाहिये। अच्छा, अब गीताकी कोई हिन्दी टीका निकालो।

गणेश—यह गीताकी एक सर्वोत्तम हिन्दी टीका है। गीता के जितने भिन्न भिन्न संस्करण देखने में आते हैं प्रायः उन सभी का मूल यही टीका है। इस में उपरोक्त श्लोकों का अर्थ. भावार्थ सहित यों लिखा है :—

"जैसा कुछ ब्राह्मणादिकोंका अपना कर्म कहा है तिस अपने अपने कर्ममें तत्पर पुरुष संसिद्धिको प्राप्त होता है, अर्थात् अपने कर्मके करनेसे अन्तःकरणकी अशुद्धिके दूर होनेके अनन्तर ज्ञान निष्ठाकी योग्यताको प्राप्त होता है।"

"क्या अधिकारी पुरुष अपने कर्मानुष्ठान मात्रसेही साक्षात् मोक्षको प्राप्त होता है ? नहीं। किन्तु अपने कर्ममें निरत पुरुष जिस प्रकारसे मोक्ष रूप सिद्धिको प्राप्त होता है तिस प्रकारको सुनो"—

"जिस अन्तर्यामी ईश्वर से सब भूतोंकी (प्राणियोंकी) प्रवृत्ति, उत्पत्ति अथवा इन्द्रियोंकी चेष्टा होती है और जिस ईश्वरसे यह सब जगत् व्याप्त हो रहा है तिस ईश्वरको अपने अपने (वर्णाश्रम धर्मानुसार) कर्म करके पूजन अर्थात् आराधन करके, केवल ज्ञान-निष्ठाकी योग्यता ही है लक्षण-स्वरूप जिसका ऐसी सिद्धिको मनुष्य प्राप्त होता है, अर्थात् अपने कर्म द्वारा आराधन किया गया जो परमेश्वर तिसके प्रसाद से ज्ञान-प्राप्तिकी योग्यताको वह मनुष्य प्राप्त होता है।"

मायानंद—इस टीका में "संसिद्धि" शब्दका अर्थ "मोक्ष" मानकर भी, "ज्ञानप्राप्तिकी योग्यता" कहा गया है, और मैंने इस शब्दका अर्थ "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" कहा है; इतना ही भेद है। इसी पर तुमको इतना आश्चर्य हुआ था ?

गणेश—इतना ही भेद क्यों ? आपके अर्थसे और इस टीकाके अर्थसे बड़ा अन्तर है। "ईश्वरको अपने अपने वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्म करके पूजन करना" इसको आपने "जीविका-निर्वाह योग्य कर्मोंका प्रयोग, परमात्माकी सेवा बुद्धिसे, समाजमें करना" कहा है ! वर्णाश्रम

पर जो टीकायें शङ्कराचार्य महाराज और उनके पीछे आनन्दगिरिजी और श्रीधर स्वामीने संस्कृत भाषामें लिखी है उन्हींके आधार पर बहुधा गीताकी टीकायें और अनुवाद हिन्दी भाषामें प्रकाशित हुए हैं। बङ्गला भाषामें इनके अतिरिक्त एक नये ढंगकी टीका लिखी गयी है जो आध्यात्मिक और योगसे सम्बन्ध रखती है जिसका नमूना पहले बतलाया जा चुका है। यहां नवलभाष्य नामक टीकाका उल्लेख किया गया है जोकि उक्त तीनों आचार्योंके मतोंका समुच्चय करके लिखी गयी है।

इस प्रश्नकी शब्द-योजनासे [illegible]

धर्मसे ईश्वरका पूजन हो सकता है, किन्तु जीविकाके कर्मोंसे कै परमात्माकी सेवा हो सकती है? इससे तो अपनी और अपने कुटुम्बक ही सेवा होती है।

मायानंद—वर्णाश्रम धर्म क्या है?

गणेश—स्मृतियोंमें कहे हुए वर्णोंके कर्म और आश्रमोंके लिये विधि-निषे वर्णाश्रम धर्म कहाता है।

मायानंद—स्मृतियोंमें वर्णोंके कौन कौनसे कर्म बताये गये हैं?

गणेश—ब्राह्मण वर्णके लिये वेद पढ़ना, पढ़ाना; यज्ञ करना, यज्ञ कराना; द देना, दान लेना। (मनु० अ० १। ८८)

क्षत्रिय वर्णके लिये प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वे पढ़ना, विषय वासनाओंमें चित्तको न लगाना। (मनु० अ० १। ८९)

वैश्य वर्णके लिये पशुओंकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ कर वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और खेती करना। (मनु० अ० १। शूद्र के लिये द्वेषभाव रहित होकर तीनों वर्णोंकी सेवा करना।

मायानंद—ये चारों वर्ण अपने अपने कर्मोंके द्वारा ईश्वरका पूजन कैसे करते

गणेश—यह एक हिन्दीकी दूसरी टीका है (श्रीधर स्वामी कृत)। इसमें आ प्रश्नका उत्तर यों दिया है:—

"जिस परमेश्वरका पूजन जो मनुष्य स्वकर्म करिके करता है किये भये स्वकर्म सर्व ईश्वरार्पण करता है वह सिद्धिको प्राप्त करता है।

मायानन्द—"स्वकर्म ईश्वरार्पण" कैसे होता है? क्या "श्रीकृष्णार्पणमस्तु" क से ही होजायगा, जैसे हम सन्यासी लोग "ॐ तत् सत्" कहकर जिस वस्तु को पवित्र करलेते हैं?

गणेश—इसका उत्तर मैं आपको नहीं दे सकता; क्योंकि टीकाकारने ईश्वरा शब्दकी व्याख्या नहींकी है। मेरी समझमें ईश्वरकी आराधना यज्ञ, होम, व्रत, देव-पूजा और जप तप आदि के द्वारा होती है। सच्चे मन से ऐसी आराधना करता है वह अवश्य ज्ञान प्राप्तिकी योग्य ... है। किन्तु वर्णोंके उन कर्मोंसे जिनका सम्बं

समझ में नहीं आती। कदाचित् "ईश्वरार्पण" का रहस्य मालूम हो जाय तो यह बात समझ में आवे।

(क)

मायानन्द—जैसा कि छः प्रकारके स्मार्त धर्म, यथा—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म और साधारणधर्म के अन्तर्गत नीचे लिखे विधि-निषेध* वर्ण और आश्रमके अधिकारानुसार धर्म हैं;

(१) ब्राह्मण मदिरा को त्याग दे। (वर्णधर्म)

(२) ब्रह्मचारी अग्निके लिये इन्धन लावे (आश्रमधर्म),

(३) और अपने अपने वर्णके अधिकारके अनुसार "भवति" शब्दका भिन्न भिन्न प्रयोग करता हुआ भिक्षाटन करे; एवं ब्राह्मण वर्णका ब्रह्मचारी पलाश के दण्डको, क्षत्रिय ब्रह्मचारी खैरके और वैश्य ब्रह्मचारी गूलरके दण्डको ग्रहण करे। (वर्णाश्रम धर्म)

(४) जिस राजा में शास्त्रोक्त रीति से अभिषेकादि गुण हो वही प्रजाका पालन करे, (गुण धर्म)।

(५) विधिके पालन न करने पर और निषिद्धके करने पर धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करना। (निमित्त धर्म)।

(६) किसी प्राणीकी हिंसा न करनी।

(७) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णका, उपवीत ग्रहण करने पर वेद पढ़नेके लिये, ब्रह्मचर्याश्रमको जाना। ब्राह्मण

(ख)

वैसा ही क्या श्रुति, दर्शन, पुराण और यावत् नीति ग्रन्थों के सामान्य और विशेष धर्मके अन्तर्गत नीचे लिखे आदेश-निषेध मनुष्य मात्रके लिये धर्म नहीं है?

(१) मादकताके लिये कोई मनुष्य मदिरा न पीवे (सामान्य धर्म*)।

(२) ज्ञानका उपार्जन करना या विद्या सीखनी मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। (सामान्य धर्म)

स्मृति ग्रन्थ देखिये।

* सबके उपयोगी।

कपासका, क्षत्रिय सनका और वैश्य ऊर्नका जनेऊ पहिने। (वर्ण धर्म)।

(८) स्मृतियोंमें कहेहुए नियमोंके अनुसार विवाह करना, सन्तान उत्पन्न करना, नित्य अग्निहोत्र करना, पञ्च महायज्ञ करना, भूत-वलि देना, पितर और मनुष्योंके लिये नित्य अन्न देना, पोष्य-वर्गको भोजन कराकर शेष अन्न स्वयं खाना, अतिथि भिक्षुक सन्यासियोंको भिक्षा देना, वेदोक्त वार्षिक और आयनिक यज्ञोंका करना, नित्य नैमित्तिक श्राद्ध क्रिया करना; एवं अपने कुलके अभ्युदयके लिये गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नाम-करण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारंभ, समावर्तन, और विवाह एवं विवाहाग्निपरिग्रह और त्रेताग्निसंग्रह · और मृतककी अन्त्येष्टि क्रिया इन १६ संस्कारोंको करना* । (गृहस्थाश्रम वर्णधर्म)

(९) आयुके तीसरे भागमें द्विजोंका (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) गृहस्थाश्रमको त्यागकर वनको जाना, और वहां निवास करते हुए वाणप्रस्थाश्रमके नियमोंका पालन करना, यथा कृषिसे उत्पन्न अन्नको न खाना, दिनान्तर पक्षान्तर वा मासान्तरमें एकबार भोजन करना, दिनभर खड़ा रहना, रातभर भूमिपर सोना, इत्यादि इत्यादि (वाणप्रस्थ-आश्रम धर्म)।

(३) प्रातःकृत्य, स्नान, तिलक, पूजा, पाठ जप, व्रत, उपवास, देवपूजा, देवदर्शन तीर्थदर्शन करना। काम, क्रोध, लोभ मद, मोह मात्सर्यका त्याग करना इन्द्रियोंका दमन करना, सत्य बोलना, झूठ न बोलना, दान देना चोरी न करना, क्षमा करना इत्यादि इत्यादि (सामान्य धर्म)

(४) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि द्वारा योग-साधन करना* (विशेष धर्म)।

---

* इन संस्कारोंके विषयमें अधिक जाननेकी इच्छा हो तो तुलसीकृत रामायणकी विनायकी टीका

* मुमुक्षुके लिये ।

(१०) एवं आयुके चौथे भागमें पहुंचने पर याने ७५ वर्षका बूढ़ा होने पर सन्यास लेकर एक स्थानमें वास न करना, सर्वत्र एकाकी विचरना, केवल भिक्षा-के लिये ग्राममें जाना इत्यादि
(सन्यास धर्म) ।

(११) मृतकों की अन्त्येष्टि क्रिया करना याने स्मृतियोंके अनुसार २ वर्षसे कम अवस्थाके शिशुके शवको गाड़ना, इससे ऊपरकी अवस्था वालेके शवको जलाना एवं तर्पण करना, पिण्ड दान देना इत्यादि (साधारण धर्म) ।

(१२) स्मृतियोंमें कहेहुए न्यायालयकी कानूनी बातें (Acts) यथा-व्यवहार, असाधारण व्यवहार मात्रिका, ऋणा-दान, उपनिधि, साक्षि, लेख, दिव्य, दायविभाग,सीमाविवाद,स्वामिपाल-विवाद इत्यदि २ (निमित्त धर्म) ।

(१३) देवताके लिये न बनाये हुए मोहन-भोग,खीर, पेड़े, पूरी और मांस द्विज जातिको न खाना चाहिये । मछली, पियाज, सलगम, लहसन, गाजर द्विज जाति भक्षण न करें (वर्ण धर्म) ।

(१४) श्राद्धमें और होमा हुआ और ब्राह्मणकी इच्छासे और देवता एवं पितरोंको पूजकर मांस भक्षण करने वाला दोषभागी नहीं होता ।
(साधारण धर्म)

(१५) विप्र (वेदपाठी ब्राह्मण) मांसके त्यागसे सब कामनाओंको और अ-

(५) श्रवण या स्वाध्याय, मनन और निदिध्यासन के द्वारा नित्यानित्य वस्तु विवेक तदनन्तर आत्मज्ञानकी प्राप्ति करना (सामान्य धर्म) ।

(६) किसीको धोखा न देना, सबसे सच्चा व्यवहार करना (सामान्य धर्म)

(७) नाना प्रकारके उपायोंके द्वारा अपने अपने इष्ट देवता वा परमात्माके साथ प्रेम वा भक्तिका अद्भाव और वैराग्यका अभ्यास करना ।
(सामान्य धर्म) ।

(८) किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना और सात्त्विक भोजन करना ।
(सामान्य धर्म) ।

(१६) स्मृतियोंमें कहेहुए द्रव्य शुद्धिके नियमके अनुसार जो वस्तु जिस प्रकारसे शुद्ध होने लायक हो उसको उस प्रकारसे शुद्ध करना और जिस वस्तुको शुद्ध करना दुःसाध्य वा असम्भव हो उसको सदा पवित्र मानना। (साधारण धर्म)।

(१७) विद्या और तपसे हीन ब्राह्मणको कोई दान न दे, और ऐसा ब्राह्मण स्वयं भी किसीसे दान न ले।
(साधारण वर्ण धर्म)।

(१८) श्राद्धका अन्न खाकर उस रात्रि ब्राह्मणको ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये।
(वर्ण धर्म)

(१९) द्विज वर्णोंको दक्षिण कर्णपर जनेऊ रखकर दिन और सन्ध्याके समय उत्तराभिमुख होकर एवं रात्रिके समय दक्षिणाभिमुख होकर मल मूत्रका त्याग करना चाहिये।
(वर्ण और आश्रम धर्म)

ऐसे ही अनेक बातें हैं।

(९) सर्वत्र परमात्माका एवं सबमें अपने आत्माको देखना और सबका मान करना। (सामान्य धर्म)।

फिर वैदिकधर्म, शैवधर्म, शाक्तधर्म, वैष्णवधर्म, ब्राह्मधर्म, आर्यसमाजधर्म बौद्धधर्म, जैनधर्म, पारसीधर्म, यहूदीधर्म, खिष्ठीयधर्म, मुसलिमधर्म इत्यादि इत्यादि सब क्या धर्म नहीं हैं? और क्या वस्तुओंके गुण और प्राणियोंकी प्रकृतिको भी "धर्म" संज्ञा नहीं दी जाती?

गणेश—आपके इन प्रश्नोंके उत्तरमें मुझे इतनाही कहना है कि आपने मुझे धर्मके जङ्गलमें डालदिया। धर्मके संबंधमें जो कुछ मेरी धारणा थी वह संशयमें पड़ गई।

मायानन्द—क्या ये सब विधि-निषेधात्मक धर्म जो कि श्रुति, स्मृति, दर्शन, पुराण आदि धर्म ग्रन्थोंमें मनुष्योंके लिये निर्दिष्ट हो चुके हैं वर्ण और आश्रम सम्बन्ध नहीं रखते?

गणेश—अवश्य रखते हैं। क्योंकि, भारतीय आर्य्य जातिके मनुष्य, वर्ण और आश्रममें बटेहुए होनेसे ये सब उनके वर्णाश्रम धर्म ही हैं। अतएव जो आर्य्य-सन्तान अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार आचरण द्वारा परमेश्वरका पूजन* कर सकती है वह संसिद्धिको प्राप्त होती है—इस अर्थका समझना कठिन न था। किन्तु "धर्म" कोई विशेष बात होगी इस संशयसे अब वैसे अर्थका यथार्थ होना मेरी समझमें नहीं आ रहा है। परन्तु जीविका-निर्वाह योग्य कर्मों याने धंधोंसे कैसे परमात्माकी सेवा हो सकती है और फिर उससे मुक्ति भी मिल सकती है यह बात तो मेरी बुद्धिमें आती ही नहीं। इसीसे आपकी व्याख्या सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।

मायानन्द—धीरज धरो। तुम्हारा कुतूहल निवारण करनेके लिये मैं तो वचनबद्ध हो ही चुका हूं। पहले मेरे और एक प्रश्नका उत्तर देलो।

गणेश—आज्ञा कीजिये।

मायानन्द—श्री गीताके उपदेश केवल वर्णाश्रम धर्मावलम्बी भारतीय आर्य्यजातिके लिये ही हैं अथवा पृथ्वीकी सभी मनुष्यजातिके लिये हैं?

गणेश—श्री गीताका प्रचार पृथ्वीके सभी सभ्य देशोंकी भाषामें हो चुका है। गीता पर सभी विद्वानोंकी यही राय है कि इसका उपदेश मनुष्य मात्रके लिये लागू है। जैसा कि सत्य बोलना, चोरी न करना आदि नीतिकी बातें सभी मनुष्यों पर लागू होती हैं। इन विद्वानोंकी यह राय सत्य होनेका प्रमाण यही है कि जिस किसी विदेशी पंडितने इसे प्रथम पढ़ा उसीने अपनी जातिके लिये इसका उल्था अपनी देश-भाषामें किया। परन्तु अब मेरा मन इस विश्वाससे विचलित हो रहा है। यदि विचाराधीन मन्त्रोंका प्रचलित अर्थ ही सत्य है तो मुझे यही कहना पड़ता है कि गीताका उपदेश भगवान्ने केवल भारतीय आर्य्यजातिके लिये ही किया है।

मायानन्द—तो तुम्हारे मनको उस सत्य सिद्धान्तसे अविचलित रखनेके लिये मुझे पुनः यहीकहना पड़ता है कि भगवान् वासुदेवके आविर्भावके बहुत काल

---

* पूजन कैसे किया जाता है? "यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्"। अर्थात् जो जो काम मैं करता हूं वे सब, हे शम्भो, तेराही आराधन हैं। ऐसेही किसीने कहा है 'Work is worship' अर्थात् कार्यकरनाही पूजा है। क्या इतनेहीके जानलेनेसे 'पूजन' होजायगा?

पूर्वसेही श्रौत और स्मार्त्तादि मार्ग प्रचलित थे। अतएव केवल प्रचलित बातोंके बतलानेमेंही गीताका माहात्म्य तथा गौरव न समझना चाहिये। और यहभी विचारना चाहिये कि किसी विशेष जातिकी शिक्षाके लिये अथवा ऐसे वर्णाश्रमकी शिक्षा—जिसका प्रचार हमसे भिन्न जातियोंमें होना असम्भव है और जो स्वयम् परिवर्त्तनशील है—देनेके लिये भगवान्का पूर्णावतार होना (हम लोग कृष्णावतारकोही पूर्णब्रह्मका अवतार मानते हैं और अवतार तत्वके अनुसार ऐसा मानना तब सही हो सकता है जब उनकी शिक्षामें ऐसी कोई अनोखी बात जो सभी मनुष्योंके लिये एकसी लागू हो पाई जावे) युक्ति-युक्त है वा नहीं। और एक बात पर ध्यान देना चाहिये कि विचाराधीन मंत्रोंमें "कर्म" शब्दका उपयोग किया गया है न कि "धर्म" शब्दका।

अस्तु, इस विवादसे मैं इतना समझ गया कि जबतक मैं गीताके प्रयोजन, उत्पत्ति और सङ्गति पर विचार न करलूंगा तबतक पूर्वोक्त मन्त्रोंकी मुख्यता पर और मेरे कहे हुए अर्थके विषयमें तुम्हें सन्देह बनाही रहेगा। इसलिये पहले मैं गीताके प्रयोजन पर विचार करूंगा। यह एक सर्वमान्य बात है कि बिना प्रयोजनके किसी वस्तुकी उत्पत्ति वा उसका आविर्भाव नहीं होता। हमको यह देखना होगा कि किस प्रयोजनको लक्ष्य करके भगवान्का अवतार तथा गीताका उपदेश हुआ। जब प्रयोजन या उत्पत्तिका हेतु समझमें आजायगा तब हम इस बातका विचार करेंगे कि श्री गीताके उपदेशोंकी सङ्गति उक्त मंत्रोंके साथ मेरे किये हुए अर्थके अनुसार कैसी होती है। सङ्गतिके विचारसे फिर आगे मैं प्रत्येक अध्यायके श्लोकोंकी व्याख्या सुनाऊंगा।

श्री गीताके प्रयोजन तथा उत्पत्ति पर विचार करते समय जहां कहीं तुम्हें केवल विशेष शंका अथवा कौतूहल हो वहीं प्रश्न करना, नहीं तो विषय बहुत बढ़ जायगा। सामान्य शंका सन्देहादि टीपते जाना और उनके विषयमें उपयुक्त अवसर पाकर पूछलेना। मुझे विश्वास है कि मंत्रोंकी व्याख्याके समय ऐसे अवसर बहुत मिलेंगे।

गणेश— जो आज्ञा॥

ॐ तत्सत्

॥ गीतानुशीलन ॥

ओम् प्रवृत्ति निवृत्ति रूपाय ब्रह्मणे नमो नमः ॥

श्री गीताके प्रयोजन पर विचार।

(उपक्रमणिकाध्याय)

१ परिच्छेद।

धर्मका मूल।

भाष्यानन्द—अब मैं भूत और वर्तमान शास्त्रोपदेशक विद्वानोंकी चरण-वन्दना करते हुए श्री गीतानुशीलनका आरम्भ करता हूं।

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा प्रचारित गीता-धर्मके उपदेशोंका पूर्व प्रसङ्ग यह है कि पाण्डवोंका राज्य कौरवोंने छलसे हरलिया था। अपने अपहृत राज्यके उद्धारके लिये पाण्डवोंने कौरवों पर चढ़ाई की थी। कौरव भी लड़ाई के लिये मैदानमें डटे हुए थे। ऐसे अवसर पर अर्जुनने, जिनके भरोसे उनके बड़े भाई महाराजा युधिष्ठिरने यह चढ़ाई की थी, भगवान् श्रीकृष्णसे जो इस लड़ाईमें उनके सारथी हुए थे, अपना रथ दोनों सेनाओंके बीच खड़ा करने को कहा।

जब अर्जुनने दोनों पक्षोंकी सेनाको देखा तब यह सोचकर कि इस लड़ाईमें दोनों ओरके ये लाखों वीर (जिनमें कुटुम्बी, मित्र और प्रजा जन हैं) मारे जायेंगे, उनके मनमें बड़ी वेदना उपस्थित हुई और उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चय करनेमें कठिनाई

इस अवसर पर श्री गीताके रचयिताने अर्जुनके मुखसे सात्त्विक भावना-युक्त जितनी बातें कहवाई हैं (गी० अ० १ मं० २८–४६) उनका सार यह है:—

धर्मयुद्ध* करना क्षत्रिय वर्णका स्वधर्म होने पर भी, उसमें जीव-संहार होता है और जब जीव-संहार सभी धर्म-शास्त्रों (स्मृति आदि ग्रन्थों) में पाप माना गया है तब ऐसे पाप युक्त स्वधर्मका** आचरण करना श्रेय है अथवा वर्णाश्रम-धर्मको ही त्याग देना श्रेय है।

"श्रेय"‡ शब्दसे जीवितकालमें मनकी शान्ति और मरणोत्तर उत्तमगति समझना चाहिये। किसीका स्वधर्म स्वभावतः अशान्तिजनक होनेसे जीवितकालमें जब उसे मनकी शान्ति न मिली तब मरणान्तर उत्तम गति होगी इसका निश्चय ही क्या? ऐसा संशय, जीवको नित्य माननेवालेके मनमें भी हो सकता है। स्मृतियोंका (सामाजिक धर्म शास्त्रोंका) यह आदेश है कि वर्णाश्रम-निर्दिष्ट स्वधर्माचरणसे मनुष्योंकी स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है। किन्तु मरणोत्तर अवस्थाके विषयमें जिसको सन्देह है उसके लिये यह आदेश केवल वाक्यमात्र होजाता है। जिनको स्मृतियोंके उद्देश्यका यथार्थ ज्ञान नहीं है उन्हें स्मृतियोंमें कहे हुए वर्णाश्रमके धर्माचरणसे होनेवाले श्रेयोलाभमें सन्देह ही बना रहता है।

अर्जुनके इस संशयका मूल विचार यों है—क्षत्रियके लिये युद्ध करना धर्मशासनके अनुसार कर्तव्य तो हुआ, परन्तु युद्धरूप क्रिया भी तो पापाचार है। क्या पापाचार भी कभी कर्तव्यमें गिना जासकता है? पापाचरण मात्र तो अकर्तव्य माना जाता है। युद्ध चाहे पराये राज्य पर अधिकार करने के हेतु अधर्म मूलक हो अथवा अपहृत राज्य के उद्धारके हेतु धर्म मूलक हो जब उसका परिणाम जीव-संहार है तो वह पाप ही है। जान बूझकर पाप करने वाले को मनमें कभी शान्ति नहीं मिल सकती; और परलोक में तो पाप का दण्ड भोगना ही पड़ता है। यदि युद्ध न किया जाय तो जीव का संहार न होगा अतएव जीव-संहार न होने देने के कारण पुण्य होगा। इस पुण्य के ज्ञान से (पापी न होने के ज्ञान से) मन में शान्ति बनी रहेगी; और परलोक में पुण्य का फल स्वर्ग-लाभ तो निश्चित ही है। अतएव वर्ण और आश्रम के कर्त्तव्यों की झंझट में क्यों पड़ना चाहिये?

पाप पुण्य का ऐसा विचार समाज-तत्व या धर्म-तत्व का ज्ञान रहते हुए भी उत्पन्न हो सकता है। समाज अथवा समाज-शीर्ष स्थानीय राजा से

---

* स्वत्व या न्याय के लिये जो युद्ध है उसे धर्मयुद्ध कहते हैं।

** समाज विहित या समाज द्वारा नियोजित कर्म अर्थात् अपने वर्ण का कर्म।

‡ श्रेयस्-शब्द का अर्थ है मङ्गल, शुभ। इस लोक में 'शान्ति' से अधिक दूसरा कोई 'मङ्गल' मनुष्यों के लिये नहीं हो सकता और परलोक में तो 'उत्तमगति' ही मङ्गल है।

नियोजित होकर अग्र सत्री नामक किसी वर्णने युद्धरूप हिंसात्मक कर्म का करना स्वीकार कर लिया तब अवसर पड़ने पर अपने स्वीकृत कर्म को त्याग देना भी पापाचरण है। क्योंकि इस से समाज को धोखा देना और उसका अहित करना हुआ। पुनश्च, युद्ध के न करने से सेनागत मनुष्यों की जान बचगई इस से पुण्य भी हुआ। इन दोनों भावनाओं में जो कूट विचार है सो यह है कि—

१-कर्तव्य के करने में {
पाप—युद्ध करो तो जीव-संहार और उसके आनुषङ्गिक अर्थात् मृत व्यक्तियोंके कुटुम्बियों को दुःख पहुंचने के कारण पाप का उदय होता है।
पुण्य—युद्धरूप अपने स्वीकृत कर्म के द्वारा समाजकी रक्षा करनेसे समाज की ओर से पुण्य होता है।

२-कर्तव्य के न करने में {
पाप—युद्धरूप अपने स्वीकृत कर्मके न करनेसे समाजका अनिष्ट-साधनरूप पापका उदय होता है।
पुण्य—युद्धसे अलग रहनेके कारण जीव-संहार न हुआ इससे पुण्य होता है।

जब दोनों मार्गों में पाप और पुण्य हैं तब किस मार्गसे जाना चाहिये? ऐसा संशययुक्त मन होकर अर्जुनने जगत्-रहस्य वेत्ता श्रीकृष्ण भगवान् से पूछा—

"यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" (गी०अ०२। ७)

"मैं आपके शरणागत होके शिष्यकी नाईं प्रार्थना करता हूं कि मेरे लिये जो मार्ग निश्चित श्रेयस्कर होवे उसका उपदेश कीजिये। हे भगवन! जब मार्ग दोही हैं और दोनोंमें पाप और पुण्य हैं तब ऐसा कोई उपाय बतलाइये जिससे कि स्वधर्म पर चलतेहुए भी उस मार्गका पापांश तो मुझे स्पर्श न करे पर पुण्यही पुण्य मिले। पापकी आशङ्कासे मेरा चित्त व्याकुल होरहा है अतः जिससे यह आशङ्का जाती रहे और मेरे चित्तमें शान्तिभी रहे ऐसा उपदेश कीजिये।"

स्मरण रखो कि अर्जुनकी इस विनतीसे और श्रीकृष्णोक्त गीताके उपदेशोंसे यही जानाजाता है कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विचार मनुष्यके लिये एक कठिन समस्या है जबतक कि वह धर्म-तत्वसे अभिज्ञ न हो। साथ ही, कर्त्तव्यका पालन या सत्यपर स्थित रहना (सत्याग्रह) उसके लिये तबतक

होगया हो। इसका विस्तृत विचार यथा अवसर भी गीता के मंत्रों की व्याख्या में किया जायगा।

अर्जुनकी इस प्रार्थना पर श्रीकृष्ण भगवान्‌ने उसे युद्ध करने को कहा, युद्धसे विरत रहनेको नहीं। अपनी इस सम्मतिकी पुष्टिमें अर्जुनको भगवान्‌ने यह बतलाया कि धर्मोचित युद्ध* ही क्षत्रियोंका स्वधर्म है। इसलिये यह उसका कर्त्तव्य है। धर्म एवं आध्यात्मिक या ब्रह्मज्ञानके बिना ऐसे कर्त्तव्यरूप स्वधर्ममें जो सन्देह रहजाता है उसके दूर करनेके लिये भगवान्‌ने उसे ज्ञानका उपदेश किया। जिससे, ज्ञान-भूमिका पर स्थित होकर अपने स्वधर्मरूप कर्त्तव्य के पालन से अर्जुनको श्रेयः प्राप्त हुआ।

धर्मका मूल। धर्मके मौलिक रूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अब हमें अनुसन्धान करना है कि श्रीकृष्ण महाराज ने किस विचारसे अर्जुनको युद्ध करने की सम्मति दी। ऐसी सम्मतिसे भगवान्‌का यही अभिप्राय पायाजाता है कि :—

(१) युद्धके परिणाम जीव-संहारसे अर्जुनको जो पाप होता है, समाजकी रक्षा के लिये युद्धके न करनेसे उसे जो पाप लगेगा उसके सामने वह पाप किसी गिनतीमें नहीं है।

(२) युद्धसे विरत रहनेसे जीव-हिंसा न होने के कारण उसे जो पुण्य मिलेगा, युद्धके करनेसे समाजकी ओरसे उसे जो पुण्य होगा उसके सामने वह पुण्य स्वल्प है।

श्रीकृष्ण भगवान्‌की ऐसी सम्मतिसे यही सिद्ध होता है कि स्वधर्मोचित कर्त्तव्यके पालनमें यदि व्यक्तिगत नीति (शास्त्रीय नीति) की दृष्टिसे पाप भी होता हो तो भी सामाजिक नीतिके अनुसार ऐसे कर्त्तव्यका पालनही धर्म है। अर्थात् किसी मनुष्य-समाज (राष्ट्र या देश) के हिताहित की चिन्ताके सामने उसी समाजके अन्तर्गत मनुष्योंकी व्यष्टिभावसे हिताहित चिन्ता गणनीय नहीं है।

(१) आदेश-निषेध सूचक व्यक्तिगत नीतिके,—याने जीव-हिंसा पाप है, मित्र-द्रोह गुरु-द्रोह पातक है, कुलक्षय दोषका घर है, अहिंसा पुण्य है, मित्र-प्रेम गुरु-भक्ति सदाचार है इत्यादि नैतिक आदेश और निषेधात्मक उपदेशोंके पूर्ण ज्ञान से;

---

* "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते" (गी० अ० २ । ३१)।
अर्थ—क्षत्रीके लिये धर्म-युद्धसे बढ़कर कोई श्रेय (पारलौकिक मङ्गल) नहीं है।

(२) एवं सामाजिक नीति सम्बन्धी आदेशके—यथा, आवश्यक होने पर युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है,—अपूर्ण ज्ञानसे; ।

(३) और समाज-तत्वकी अज्ञानतासे; अर्जुनको ऐसा मोह उत्पन्न हुआ था अतः भगवान्ने भी समाज तत्वके आधार पर अपने धर्मोपदेशकी नींव बना कर अर्जुनका मोह दूर कर दिया ।

व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनमें पाप-पुण्य याने दूसरोंके हित और अहितके विचारसे जो आदेश और निषेध हैं, उनको नीति कहते हैं। ऐसी शास्त्रीय (शासनकारी) नीतिको मैंने "व्यक्तिगत" नीति कहा है । परन्तु, "व्यक्ति" समाजका ही अङ्ग होनेसे व्यक्तिगत नीतिका विचार समाज से स्वतंत्र है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । सुतरां व्यापक रूपमें व्यक्तिगत नीति ही सामाजिक नीति हो जाती है, और इसी दृष्टिसे नीति और धर्म दोनों समानार्थक हैं ।

नीति और धर्म ।

पुनश्च, नीति उसे कहते हैं जिसमें हित और अहितका विचार पाया जावे । जिस आचरणसे हित हो उसे नीति सिद्ध और जिस आचरणसे अहित हो उसे नीति विरुद्ध कहते हैं । अब यह प्रश्न है कि कर्ताके संबंधके विचारसे ऐसा आचरण किया जाना चाहिये अथवा उनके संबंधके विचारसे जिनको कि इन आचरणोंका फल पहुंचता है ?

धर्म उसे कहते हैं जिससे मनुष्योंका पालन होता है । पालन शब्दका व्यापक अर्थ है स्थिति और उन्नति । नीतिके सम्बन्धमें जो हित शब्द आया है उसका भी यही अर्थ है । अब यहां भी यह प्रश्न होता है कि पालन-कारक वा स्थिति और उन्नति-कारक कर्म याने धर्म, कर्ताके सम्बन्धके विचारसे किया जाना चाहिये अथवा उस कर्मके फल-भोगियोंके संबंधके विचारसे ?

यह जान कर कि कैसाही कर्म क्यों न हो उसका फल युगपत् दो मुखी (दो प्रकारका) होता है, एक ओरसे वह कर्ताको पहुंचता है और दूसरी ओरसे कर्तासे भिन्न एक या अधिक संख्यक मनुष्योंको पहुंचता है; यद्यपि उपरोक्त प्रश्नोंके उत्तरमें यह कहा जावे कि कोई भी कर्म चाहे वह नीतिका अनुयायी हो वा धर्मका अनुयायी, कर्ताके साथ उसका जो संबंध है—याने उस कर्मसे कर्ताको जो आंशिक फल पहुंचता है—यदि वह उनके लिये हितकारी अथवा शान्ति दायक होता है।

---

* द्वापर युगमें समाज-तत्वका ज्ञान लुप्त होगया था । उसीका दृष्टान्त अर्जुन है । श्रीगीताके उत्पत्ति- [illegible]

तो उसके विचारसे किया जाना चाहिये; तथापि ऐसा उत्तर समाज-विज्ञानकी दृष्टिमें मान्य नहीं हो सकता। ऐसा उत्तर केवल उसी अवस्थामें मान्य हो सकता है जिस अवस्थामें कर्त्तासे भिन्न और कोई दूसरा प्राणी इस संसारमें न हो।

यद्यपि यह बात सत्य है कि "जिस कार्यके द्वारा आत्माका हित होता है उसी कार्यके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌का हित हुआ करता है" तथापि अपने ऊपरसे कार्याकार्यका विचार करना सबके लिये सरल नहीं है। क्योंकि कर्त्तामें आत्म-तत्वका ज्ञान रहना आवश्यक है और दृष्टान्त विशेषमें अपनेको दूसरोंके स्थानमें स्थापित करके कर्म-फलका विचार करना कर्त्ताके लिये कठिन भी है। बिना इन दो साधनोंके रहे कर्त्तव्यके विषयमें कर्त्ताके मनमें स्वार्थ भावके उत्पन्न हो जानेकी ही अधिक सम्भावना रहती है।

और जब यह बात भी सत्य है कि "जिस कार्यके द्वारा जगत्‌का हित होना सम्भव है उसी कार्यके द्वारा आत्माका भी हित हुआ करता है"। तब यही पथ सरल और निर्विघ्न है कि कर्मका जो फल दूसरोंको पहुंचता है उसके विचारसे कार्याकार्यका निश्चय किया जावे। इससे निष्कामता और परार्थपरता बढ़ती है।

मनुष्यका सम्बन्ध मनुष्यों एवं इतर प्राणियोंके साथ सनातनसे चला आ रहा है, और जब तक यह संसार बना रहेगा तब तक चला जायगा। जब मनुष्यके साथ मनुष्योंका संबंध लगा ही है तब प्रत्येक मनुष्यका यह कर्त्तव्य है कि वह किसी भी कर्मको करनेके पूर्व यह विचार करले कि उसके इस कर्मका फल दूसरोंके लिये हितकारी होगा वा अहितकारी।

कर्मके फलमें यह भी एक गुण है कि वह गन्तव्य स्थानमें पहुंचकर अपने अनुरूप दूसरे कर्मोंका जनक हो जाता है। कर्मका फल जिस मुखसे कर्त्ताको आ पहुंचता है उस ओरकी उसकी गतिशक्ति भलेही कर्त्तामें पहुंचकर लोप हो जाय, परन्तु जिस मुख से वह औरों को जा पहुंचता है उस ओर की उसकी गतिशक्ति कदापि लोप नहीं होती। वह उन औरोंमें अपने अनुरूप कर्मों को उत्पन्न करके उनके फलको पुनः मूल कर्त्तामें पहुंचा देती है।

अतएव पूर्वोक्त प्रश्नोंका यही समीचीन उत्तर होता है कि कोई भी कर्म, चाहे वह नीतिसिद्ध हो वा धर्मसिद्ध, कर्त्ताके साथ उसका जो सम्बन्ध है उस सम्बन्धका विचार न करके औरोंके साथ उसका जो सम्बन्ध है उस सम्बन्धके विचारसे, किया जाना चाहिए। इस तरहसे किया हुआ कर्म ही स्वार्थ रहित कर्म कहाता है।

ऐसा स्वार्थ रहित कर्म, जब तक निज समाज वा देशके इने गिने मनुष्योंकी हित चिन्तासे अथवा अपनेसे भिन्न किसी* जातिके मनुष्य समष्टि (समाज की हित-चिन्तासे किया जाता है तब तक वह पुण्य कर्म मात्र है और जब वह अपनी जातिके मनुष्य-समष्टि अर्थात् स्वसमाज वा देशकी हित-चिन्तासे किया जाता है तब वह धर्म्म कर्म हो जाता है।

पुण्य कर्म और धर्म कर्म में भेद।

अर्जुन जिस विचारसे युद्ध नहीं करना चाहते थे वह पुण्यका विचार था। और श्रीभगवान्‌ने जिस विचारसे उनसे युद्ध करनेको कहा वह धर्म्म कर्मका विचार था। इससे भगवान्‌का यही अभिप्राय पाया जाता है कि पुण्य कर्मसे धर्म्म कर्म श्रेष्ठ है।

यदि तुम पुण्य कर्म और धर्म्म कर्मका भेद समझ गये होगे तो यह भी जान गये होगे कि धर्म्म कर्ममें पुण्य कर्मका समावेश है, किन्तु पुण्य कर्ममें धर्म्म कर्मका समावेश नहीं है। जैसे मुहल्ला गढ़ाफाटक जबलपुरका एक अङ्ग मात्र है उसमें जबलपुरका समावेश नहीं है किन्तु जबलपुरमें गढ़ाफाटकका समावेश है।

गणेश—आपके इस दृष्टान्त से मैंने "समावेश" का अर्थ तो समझा परन्तु आपके कथनके अभिप्रायको अभीतक अच्छी तरह नहीं समझ सका।

मायानन्द—हमारे कथनके अभिप्रायको समझनेके लिये तुम्हें समाज-तत्वके ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव आगे हम समाज-तत्वका विचार करेंगे और उसीके साथ साथ आर्य ऋषियोंके द्वारा स्थापित वर्णाश्रमका भी विचार होगा। समाज-तत्व वा धर्म-तत्वके गहन विचारोंमें प्रवेश करनेके पूर्व इतना और कहदेना आवश्यक है कि धर्म मनुष्योंका सहजसाध्य कर्त्तव्य है और पुण्य कष्ट साध्य कर्त्तव्य है;† और वही पुण्य कर्म जिस अवस्थामें जिसके लिये सहज साध्य होता है उस अवस्थामें उसके लिये वह धर्म जैसा कर्त्तव्य हो जाता है। इन दोनोंकी स्वाभाविक और सामयिक एकरूपताके कारण हमारे कथनका अभिप्राय तुम्हारी समझमें नहीं आया है।

धर्मके ज्ञानके लिये समाजतत्वके ज्ञान-की आवश्यकता।

इसी बातको अधिक स्पष्टरूपसे यों कह सकते हैं कि नीति, धर्म और पुण्यके नामसे शास्त्रकारोंने मनुष्योंके लिये जितने प्रकारके आचरण और कर्म बतलाये हैं;

---

* निज देशको जिस समय हितकी आवश्यकता है उसे पहिले न करके यदि अन्य देशका हित किया जाय तो वह कर्म पुण्य नहीं है "पुण्याभास" है। (मनु० अ० ११। ९)

† सहजसाध्य धर्म = duty, पुण्य = vertue, सहजसाध्य पुण्य = duty.

वे सब ऊपरी दृष्टिसे ऐसे जान पड़ते हैं कि व्यक्तिरूपसे मनुष्योंके परस्पर-व्यवहार सुख पूर्वक निर्वाह होनेके लिये और आचरणकारीकी वैयक्तिगत लौकिक सुखोन्नति एवं पारलौकिक सद्गतिके लिये—अर्थात् केवल व्यक्तिगत हितके लक्ष्यसे—निर्देश किये गये हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है, इन सब आदिष्ट आचरण और कर्मोंका मूल समाज-तत्वके आधार पर स्थित है अर्थात् समाजके मनुष्य समष्टिके हितके लक्ष्यसे उन सबका निर्देश किया गया है। परन्तु इस मूलकी स्थिति (समाज-तत्व) के ज्ञान बिना नैतिक और पुण्य कर्मोंकी कार्य-प्रणाली धर्मकी कार्य-प्रणालीसे भिन्न होगई है*। सुतरां, नैतिक और पुण्यकर्म धर्मके अङ्ग होकरके भी वे आचरणकारियोंकी जाति वा समाजके लिये धर्मकी नाईं पालक (स्थिति और उन्नति कारक) नहीं होते हैं। क्या भारतवर्षमें नीतिवान और पुण्य-कार्य करनेवाले कम हैं? नहीं, बहुत हैं। तो फिर इस देशकी सुखोन्नति† क्यों नहीं होती? देशकी सुखोन्नति धर्म-तत्वके ज्ञान बिना नहीं हो सकती, और धर्म-तत्वका ज्ञान समाज-तत्वके ज्ञान पर अवलम्बित है। पुण्यका उपार्जन कोई भी समर्थ पुरुष कर सकता है परन्तु धर्मका उपार्जन समाज-शास्त्रज्ञ हुए बिना नहीं हो सकता।

पुरुषार्थ चार हैं।

मानवी संसारके लिये चार पुरुषार्थ हैं; यथा– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; जिनमें मोक्ष परम पुरुषार्थ माना जाता है। जो लोग मोक्षको परमपुरुषार्थ मानते हैं वे भी धर्मको आवश्यकताको स्वीकार करते हैं। परन्तु प्रकृतिके रहस्य को‡ जानकर भगवान् श्रीकृष्णने धर्मकोही मुख्य माना है। धर्म जब ऐसा है तो उसका ज्ञान होनेके लिये समाज-तत्वका ज्ञान लाभ करना मनुष्योंका सर्व प्रथम कर्त्तव्य है। धर्मसे अर्थ और अर्थसे कामकी प्राप्ति वैसेही स्वाभाविक है जैसे कि वृक्षसे फूल और फल।

---

* राजकुमार मोहनमल उपनाम बलदेवसिंह कृत मानव धर्म-सार पुस्तकमें दान-प्रणाली शीर्षक अध्यायके पढ़नेसे यह बात स्पष्ट समझ पड़ेगी कि पुण्य कर्मकी कार्यप्रणाली धर्मकी कार्यप्रणालीसे किसप्रकार भिन्न होगई है। परन्तु अब यथार्थ धर्मका ज्ञान लोगोंको हो चला है।

† भारतवर्षकी आयके साथ भिन्न भिन्न देशोंकी आयका मिलान करनेसे यह जाना जायगा कि भारतकी जन-संख्याके अनुपातसे यह देश अत्यंत दरिद्र है। हिसाब लगानेवालोंने भारतीयोंकी मासिक आय २॥) निश्चय किया है।

‡ प्रकृतिमें तीन क्रियायें पाई जाती हैं, यथा—(क) सृष्टि करना, (ख) सृष्ट वस्तुको स्थित रखना (ग) सृष्ट वस्तुका संहार करना। ये क्रियायें वृत्त O रेखामें होती रहती हैं। इन तीनों प्रकारकी क्रियाओंमें सृष्ट वस्तुको स्थिर रखनेमें प्रकृतिको जो आयास होता है और संहारके अनन्तर जो पुनः सृष्टि करनेका कार्य करना पड़ता है इन दोनों कर्मोंको धर्म नाम दिया गया है। संहारके अनन्तर पुनः सृष्टिसे जब वस्तुओंमें उन्नति हुआ करती है तब प्रकृतिका संहार कार्य भी धर्मके अन्तर्गत है। प्रकृतिकी इस नीतिके अनुसार मनुष्योंका जो बर्त्ताव है उसका नाम भी धर्म ...

धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंका, लोक-समाजके साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अर्थात् समाजके बिना धर्म, अर्थ और कामकी कोई उपयोगिता नहीं; एवं धर्म, अर्थ और कामके बिना समाजका भी पालन नहीं हो सकता।

धर्मसे लोक-समाज की स्थिति और उन्नति होती है और उसी लोक-समाजके कारण धर्माचरणकी आवश्यकता होती है।

अर्थकी उत्पत्तिका कारण लोक-समाज है और लोक-समाजके लिये अर्थकी उपयोगिता है।

काम (उपभोग्य पदार्थ) का भोग व्यक्तिरूपसे लोक-समाज करती है और लोक-समाजसे काम (उपभोग्य पदार्थ) उत्पन्न होता है।

ये बातें भी समाज तत्वके ज्ञानसे समझमें आजायँगी। अब रहा मोक्ष। सो धर्मका विचार होजाने पर मोक्षका विचार किया जायगा। यहाँ इतना कहदेना ही बस होगा कि भगवान् श्रीकृष्णके मतसे "मरनेके बाद मुक्ति" मोक्षका अर्थ नहीं है। उनके मतानुसार जीवित दशामें ही त्रिविध तापोंकी* आत्यंतिक निवृत्ति ही मुक्ति है। ऐसा सांख्यकार भी मानते हैं।

बिना युक्ति और प्रमाणके अभी तक मैंने जितनी बातें कही हैं और जिनको तुमने शङ्कायुक्त मनसे सुना होगा उन सब बातों को मैं श्रीगीताके मंत्रों-की व्याख्याके अवसर पर युक्ति और प्रमाण से सिद्ध करूंगा।

२ परिच्छेद।

समाज तत्व।

मायानन्द—समाजमें रहनेवाले लोगोंके परस्पर सम्बन्ध और कर्त्तव्यके ज्ञानको समाजतत्व कहते हैं।

जिसप्रकार शरीरकी स्थितिके लिये उपयोगी होनेके कारण शारीरिक अवयवोंको हम शरीरके सेवक कहते हैं, उसी प्रकार समाजकी स्थितिके लिये उपयोगी होनेके कारण समाजमें रहनेवाले लोग समाज-सेवक कहे जा सकते हैं।

अतएव, समाज और समाज-सेवकोंके वर्णनसे समाजतत्वके विचारका

* तीन प्रकारके दुःख यथा, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इनका वर्णन मोक्ष-प्रकरणमें किया जायगा।

आरम्भ होना चाहिये। एकसे अधिक व्यक्ति जब एकत्र होकर एक दूसरेके आश्रयमें रहने लगते हैं तब उनकी इस मण्डलीको समाज* कहते हैं। ऐसे समाजके इष्टको (स्थिति और उन्नतिको) साधनेके लिये उसी समाजके मनुष्यगण जबतक किसी नियत नियमसे परस्पर सहायता करते रहते हैं तब तक वे समाज-सेवक कहाते हैं।

समाज और समाज-सेवक गण।

पृथ्वीकी मनुष्यजाति पर दृष्टि डालनेसे हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न मनुष्य जातियां निवास कररहीं हैं। इनकी भिन्नताका कारण मुख्यतः भाषा है। एक ही भाषाके बोलनेवाले सब मनुष्य एकत्र होकर बहुधा एक ही देशमें रहते हैं। ऐसी एकत्रित जन-समष्टि ही "समाज" कहाती है। और ऐसा समाज जब राजाके रक्षणाऽेक्षणमें निवास करता है तब वह राष्ट्र कहाता है। राष्ट्र वा समाज का नाम करण बहुधा उसके निवासस्थानके नामसे हुआ करता है।

राजाके राज्यकी सीमाके अनुसार ही राष्ट्रका आयतन (परिमाण) होता है। यदि विभिन्न देशोंका एक ही राजा हो और यदि वह राजा इन विभिन्न देशवासी प्रजाओंके पालनका नियम एकसा रखे तो, भाषा, धर्म (आचार एवं उपासना) और देशका भेद रहते हुए भी ये सब प्रजाजन एक ही राष्ट्रके मनुष्य समझे जायँगे; क्योंकि इन सबका राजनैतिक इष्टानिष्ट (Political interest) एकसा है। इस नियमके अनुसार हम सब भारतवासी भिन्न भिन्न भाषाके बोलनेवाले और भिन्न भिन्न धर्म (आचार और उपासना पद्धति) के अनुयायी होकर भी हमारा समाज भारतीय राष्ट्र कहाता है।

जिस समाज-वृक्षकी निष्काम सेवाको श्रीकृष्णभगवान्ने गीतामें धर्म (स्वकर्म) बतलाया है उस समाज-वृक्षका बीज "परिवार" रूपमें रहता है, और परिवारका मुखिया पिता होता है। "परिवार" रूपसे "कुटुम्ब" रूपमें वह अंकुरित होता है, और कुटुम्बका मुखिया गोष्ठीपति कहाता है। "कुटुम्ब" रूपसे "कुल" रूपमें वह पल्लवित होता है, और कुलका मुखिया कुलपति कहाता है। "कुल" रूपसे "जाति" (Tribe) रूपमें वह शाखावान् होता है, और जातिका मुखिया चौधरी कहाता है। "जाति" रूपसे "ग्रामीण" वा "नागरिक" रूपमें वह बहु शाखान्वित

---

* कोषानुसार 'समाज' शब्दकी व्युत्पत्ति है—सम = तुल्य वा सहित अज् = गमन करना। अर्थात् जिन मनुष्योंको जीवनकी यात्रा एक साथ करना पड़ती है उनका दल समाज कहाता है।

होता है, और ग्रामीण वा नागरिक समाजमें विभिन्न जातियोंका समावेश होनेसे समाजकी इस अवस्थासे राजाकी प्रभुता आरम्भ होजाती है। "नागरिक" रूपसे "प्रादेशिक" और उससे 'देश' अथवा "राज्य" रूपमें वह महावृक्ष होजाता है। तब इस समाज रूपी महावृक्षका नामकरण देश वा राज्यके नामसे किया जाता है, और उसे राष्ट्र संज्ञा प्राप्त होती है।

वृक्षकी स्थिति और उन्नतिमें जैसे जलका प्रयोजन होता है वैसे ही समाजकी स्थिति और उन्नतिमें धर्मका प्रयोजन होता है। कर्त्ताकी भावनाके अनुसार धर्मके दो रूप होते हैं। एक सकाम और दूसरा निष्काम। बीजसे शाखा-समन्वित होने तक अर्थात् परिवारसे जाति तक, जिस धर्मरूपी जलकी सिंचाई इस समाज-वृक्षकी होती रहती है वह सींचनेवालोंके स्वसमाज-हेतुकी सकाम धर्मका रूप लिये रहती है। और बहुशाखान्वित अवस्थासे महावृक्षकी अवस्था तक अर्थात् नागरिकसे राष्ट्र तक, जिस धर्मरूपी जलका पान करके वह जीवित रहता है वह रूप निष्काम धर्मका है। "पुण्यकी जड़* पातालमें" ऐसी जो कहावत है वह इसी रूपकमें सार्थक होती है। महावृक्ष जैसे भूगर्भस्थ जलसे जीवित रहता है वैसे ही समाज निष्काम धर्मसे, जिसका उत्पत्ति-स्थान उसी समाजके मनुष्योंकी सात्त्विक बुद्धि है, जीवित रहता है।

गणेश—जिससे मनुष्योंको पारलौकिक श्रेय प्राप्त होता है वह धर्म माना जाता है। इसके साथ समाजकी लौकिक उन्नतिका क्या सम्बन्ध है सो समझमें नहीं आया। अतएव आपके इस कथनको अधिक स्पष्ट कीजिये। सकाम और निष्काम धर्म क्या है इसे भी समझाइये।

मायानन्द—(१) धर्मसे मनुष्यका उभयलोकमें मङ्गल होता है। मनुष्यके इह लौकिक मङ्गलका सम्बन्ध समाजके साथ रहता है सुतरां समाजकी उन्नतिसे धर्मका विशेष सम्बन्ध है। धर्म शब्दकी उत्पत्ति धृ धातुसे हुई है। धृ धातुका अर्थ है "पोषण करना" और "धारण करना"। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'धर्म' शब्दका अर्थ होता है "जो सब प्राणियोंका पोषण करता है या प्राणियोंको धारण करता है"। मनुष्यसे भिन्न प्राणियोंका एवं पशुतुल्य असभ्य मनुष्योंका पोषण प्रकृति करती

---

* इस कहावतका यह अर्थ है कि जैसे उस पेड़के गिरनेका डर नहीं रहता जिसकी जड़ें गहरेमें रहती हैं; वैसे ही पुण्य कर्मोंकी जड़ गहरेमें होनेके कारण पुण्यात्माओंको गिरनेका डर नहीं रहता। यहाँ स्वामीजीका अभिप्राय यह है कि निष्काम धर्ममें जिस समाजका जीवन है वह समाज कभी अवनति-को प्राप्त नहीं होता।

है। जङ्गलोंमें बिना किसी प्राणीके उद्योग या परिश्रमसे जो फल, मूल, घास आदि उत्पन्न होते हैं उनसे इनका पोषण होता है। किन्तु सामाजिक सभ्य मनुष्योंका पोषण उसप्रकारसे नहीं होता। सामाजिक मनुष्योंके स्वतः उद्योग और परिश्रमसे उत्पन्न द्रव्योंके नियमित वितरण द्वारा इनका पोषण होता है। अतः मैंने अपने कथनमें "धर्म" शब्दसे उन कर्मोंको लक्षित किया है जिनसे समाजके लोगोंका पोषण होता है अर्थात् समाज-सेवा कर्म (Occupations), जीविकार्जनी वृत्तियाँ (धन्धे)। समाजकी दृष्टिसे सेवा-कर्म इसलिये धर्म हैं कि इनके बिना समाजका निर्वाह नहीं हो सकता। समाज-तत्वके विवेचनमें यह बात आगे और स्पष्ट होती जायगी।

अपनी और अपने परिवारवर्गकी जीविकाके लिये ही जो मनुष्य जीविकार्जनी वृत्तियोंके द्वारा समाजकी सेवा करता है उसकी वह सेवा सकाम-धर्म कहाती है। क्योंकि उसको अपनी ही सेवाकी चिन्ता रहती है, समाजकी नहीं। यदि उसी कर्मको वह केवल समाजकी सेवाके उद्देश्यसे करे तो उसकी वह जीविकार्जनी वृत्ति निष्काम धर्मके रूपमें परिणत होजायगी।

(२) समाजके लोगोंके अबाधित सुखके (निर्विघ्न जीवनयात्राके) लिये कुछ ऐसे आचार और व्यवहारोंकी भी आवश्यकता होती है जिनसे व्यक्तिगत स्वेच्छाचारका दमन होता हो। जिन कर्मोंका सम्बन्ध बहुधा व्यक्तिगत शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी स्थिति और उन्नतिसे तथा जन साधारणके शारीरिक स्वास्थ्यकी स्थिति (Public health) से है, उनको आचार कहते हैं। और जिन कायिक एवं वाचिक चेष्टा वा कर्मोंका सम्बन्ध बहुधा व्यक्तियोंके साथ रहने से उन कर्मोंका नियमन नीति या न्यायकी दृष्टिसे किया जाता है, ऐसे नियमित कर्मोंको व्यवहार कहते हैं। ऐसे सब आचार और व्यवहार भी, जिनका आदेश शास्त्रोंमें है और जो शास्त्रोंमें संग्रहीत होने योग्य हैं, धर्म कहाते हैं। क्योंकि ऐसे नियमित आचार-व्यवहार समाजको शान्तिकी अवस्थामें धारण किये रहते हैं। आचारका शासन पारलौकिक विश्वासके प्रचार द्वारा और व्यवहारका शासन राजाज्ञा द्वारा किया जाता है। और जहाँ किसी आचारका समाजके साथ साक्षात् सम्बन्ध दीखता है वहाँ भी ऐसा आचार का शासन राजाज्ञा द्वारा हुआ करता है। उपयुक्त अवसर पर ये सब बातें दृष्टान्तके साथ समझा दी जायँगी। आचार-व्यवहार रूप धर्मका आचरण भी स्वार्थ वा परार्थ चिन्तासे सकाम अथवा निष्काम होता है, किन्तु इसके सकाम आचरणमें उतना दोष नहीं है जितना कि सकाम समाज-सेवामें है।

(३) व्यक्तिगत पारलौकिक श्रेयोसाधक कर्म भी धर्म कहाता है। इस धर्ममें उपासनारूप कर्म मुख्य है जिसके साथ समाजका वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक उससे मनुष्योंमें सात्विक गुण बढ़ता है। क्योंकि न्याय या नीति सङ्गत व्यवहारमें सात्विकगुण कारण होता है। उपासनाके सम्बन्धमें धर्मशास्त्रोंमें और जितने कर्म बतलाये गये हैं वे जैसे उपासनाके सहायक हैं वैसे ही समाजके साथ भी सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इस कारण इनका आचरण कामना रहित होकर याने अपने लौकिक अभ्युदय की एवं पारलौकिक उत्तमगतिकी चिन्तासे रहित होकर परार्थकी चिन्तासे करना चाहिये। उपासना जहां तक अपनी इष्ट देवताके साथ प्रीति बढ़ानेकी इच्छासे की जाती है वहां तक उसकी गिन्ती निष्काम धर्ममें होती है।

कणाद मुनिने धर्मकी परिभाषा एक वाक्यमें यों लिखी है—

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः।"

अर्थ—जिससे इस लोकमें सुखोन्नति और परलोकमें निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है वह धर्म है। समाजकी सुखोन्नति हुए विना किसीकी यथार्थ सुखोन्नति नहीं हो सकती, ऐसी अभिमति समाज तत्वज्ञोंकी है। और निज सुखोन्नतिकी चेष्टा सकाम कर्म होनेसे वह धर्म कही नहीं जाती। पारलौकिक निःश्रेयससे केवल व्यक्तियोंका सम्बन्ध है। अतएव धर्म शब्दकी यथार्थ परिभाषा यह है कि जिन कर्मोंसे समाजका अभ्युदय और व्यक्तियोंका पारलौकिक मङ्गल दोनों होते हैं वे ही धर्म हैं।

धर्म, कर्म सापेक्ष होनेके कारण उसका फल भी दो मुखी हुआ करता है। एक ओर से वह समाजका पोषण और धारण करता है दूसरी ओर से वह कर्ताके मनमें सकाम अथवा निष्काम भावनाके अनुसार अवसाद अथवा प्रसाद उत्पन्न करता है। ऐसा अवसाद जब समाजमें व्याप्त होजाता है याने जब समाजके अधिकांश मनुष्य अवसादग्रस्त होजाते हैं तब वह समाज निस्तेज होजाता है और कुछ कालमें उद्योग-प्रवृत्तिके अभावसे वह मृततुल्य होजाता है। ऐसे समाजका जीवित रहना न रहना समान है। पृथ्वीकी वर्त्तमान परिस्थितिमें वही समाज जीवित समझा जाता है जिसमें नये नये उद्योग धंधोंके द्वारा उसकी उन्नति होती रहती है। समाजकी इसप्रकार उन्नतिकी दशाका स्थायी होना निष्काम धर्म पर निर्भर रहता है। सकाम धर्ममें एक दोष यह है कि वह मर्यादासे बाहर होजाने पर अधर्ममें परिणत हो जाता है। एवं अधर्मके प्रबल होनेपर समाज जीवित नहीं रह सकता; भलेही उस समाजके मनुष्य जीवित रहजांय। समाजतत्वके दर्शनमें इन सब बातोंका शास्त्रीय विवेचन [illegible]

गणेश—मेरी शङ्का अब दूर होगई।

मायानन्द—वृक्षकी उपमासे समाजके विषयमें जो विचार किया जा चुका है उससे यह जानागया कि मनुष्य समाज, प्रवाहरूपसे एक नित्य वस्तु होकर भी उसका रूप तथा गुण बदलता जाता है। और जब किसी वस्तुके रूप वा गुणके अनुसार उसका नाम रखा जाता है तब मनुष्यसमाजरूपी ऐसी परिवर्त्तनशील वस्तुका नाम आर्य्य ऋषि लोग क्या रख सकते थे—सिवाय इसके कि "मनुष्य, मानव्य लोक, या सर्व"? गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने समाजको "यज्ञ" नामसे कहा है, वह गीताके मंत्रोंकी व्याख्याके समय समझाया जायगा।

जैसे छोटी छोटी नदियोंके मिलजानेसे एक बड़ी नदी बन जाती है; उसी प्रकार विभिन्न मनुष्य जातियोंके वर्त्तमान पारस्परिक सामंजस्यको देखते हुए ऐसा अनुमान करना सर्वथा अलीक न होगा कि ये विभिन्न मानव जातियां परस्पर मिलकर भविष्यमें एक दिन "लोक-समाज" या ऐसाही कोई दूसरा नाम प्राप्त कर लेंगी।

पृथ्वी पर जितनी मनुष्य जातियां हैं वे भिन्न भिन्न अवस्थाके भेदसे कोई सभ्य और कोई असभ्य समाजके नामसे पुकारी जाती हैं। जिन समाजके मनुष्य अभी पूर्णतया पशु तुल्य ही हैं, ऐसे असभ्य समाजकी स्थितिके लिये केवल रक्षककी सेवाकी ही आवश्यकता होती है। परन्तु यह सेवा-कर्म ऐसे समाजके मनुष्योंमें नियमित रूपसे बटा हुआ नहीं रहता। अवसर पड़ने पर सबके सब एक दूसरेके सहायक होकर इस कार्यको निपटा लेते हैं। अर्थात् जब कोई दूसरी जाति इन पर चढ़ाई करती है तब ये भी अपनी रक्षाके लिये उससे लड़नेको तैयार हो जाते हैं। इस युद्ध कर्मको छोड़ और जितने कर्म उनकी परिस्थितिके अनुकूल आवश्यक हैं उनको वे आप अकेले करलेते हैं। प्रत्येक परिवार अपनी अपनी आवश्यकताओंको आप ही पूर्ण करलेता है। ऐसे समाजके लोगोंमें परिश्रमका विनिमय नहीं होता।

सामाज-सेवा कर्मोंके विभाग वा समाजसेवकों की श्रेणी।

जब तक किसी मनुष्य-समाजमें परिश्रमके-विनिमयकी प्रथा नहीं चल निकलती तब तक वह समाज असभ्य दशामें ही पड़ा रहता है। सुतरां सामाजिक श्रमका विभाग ही मनुष्य जातिको असभ्य दशासे सभ्य दशामें उन्नत करनेमें कारण होता है।

सभ्य समाजकी स्थिति और उन्नतिके लिये जितने प्रकारकी सेवाओंका

प्रयोजन है उसका विभाग चार श्रेणियोंमें होता है, यथा—

श्रेणियां	सेवाकर्म
१. शिक्षा	विद्याका संकलन और प्रचार (Research, Education, Training)
२. रक्षा	सेना, शान्ति-रक्षक, न्यायालय (Military, Police, Judicatory,)
३. पोषण	कृषि, पशुपालन, शिल्प, व्यापार आदि । (Agriculture, Breeding, Industry, Commerce etc.).
४. परिश्रम	वनी (मजूरी), नौकरी । (Labour, Service).

छतको जैसे चारो खंभे रहते हैं उसी तरह ये चार श्रेणियोंके सेवाकर्म समाजकी व्यवस्थारूपिणी छतरूप अवस्थाको धारण किये रहते हैं, इस कारण ये सेवा-कर्म धर्म कहे जाते हैं।

इस समय पृथ्वीके किसी भी सभ्य समाजकी सामाजिक व्यवस्था पर ध्यान दोगे, तो उस समाजमें लोगोंको उपरोक्त चार श्रेणियोंके सेवा-कर्मोंको करते हुए पाओगे। कर्मोंके इन श्रेणियोंमेंसे यदि किसी भी श्रेणीको समाजसे उठा देवें तो उस समाजका निर्वाह भलीभांति नहीं होगा। वह समाज, सुख और सभ्यताके शिखरसे पतित होजायगा। परन्तु, यदि प्रत्येक श्रेणीके कर्म यथोचित् नियमसे होते चलेजायँगे तो वह समाज दिनोंदिन सुख, समृद्धि और सभ्यताके उच्चसे उच्चतर शिखर पर चढ़ता जायगा।

सुख, समृद्धि और सभ्यताके मूल कारण।

"सुख" शब्दसे मन और इन्द्रियोंकी प्रसन्नता समझो, और "समृद्धि" शब्दसे सुखका साधन समझो; और इन दोनोंके समावेश वा मेलकी अवस्थाको "सभ्यता" समझो। धनसे इन्द्रियोंको सुख होता है और ज्ञानसे मनको सुख होता है। अतः "सुखके" ये दो साधन, धन और ज्ञान, जिस राष्ट्रमें यथेष्ट परिमाणसे होंगे वही राष्ट्र "समृद्धि-शाली" कहा जायगा। समृद्धिशाली समाज अथवा राष्ट्र ही "सभ्यसमाज", "सभ्यजाति" एवं "सभ्य देश" कहा जाता है।

इन्द्रियोंके सुखके साधक "धन"की उत्पत्तिके लिये "ज्ञान" अपेक्षित है। "ज्ञान" का, मानसिक सुखसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और इन्द्रिय-सुखसे परम्परा सम्बन्ध है। ऐसे सुखके साधक ज्ञानके दो अङ्ग हैं—एक "व्यवहारिक ज्ञान" दूसरा "पारमार्थिक ज्ञान"। व्यवहारिक ज्ञान बाह्य जगत्‌के अनुशीलनसे, और पार-

मार्थिक ज्ञान अन्तर-बाह्य दोनोंके अनुशीलनसे प्राप्त होता है। इन्द्रियोंके सुखके साधक धनकी प्राप्तिमें व्यवहारिक ज्ञान तथा शारीरिक परिश्रम दोनों आवश्यक हैं।

समाज-सेवाओं की श्रेणीमें जो शिक्षा रूपिणी सेवा है उसीके द्वारा समाज में व्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारके ज्ञानका प्रकाश होता है। इनमें व्यवहारिक ज्ञानको आश्रय करके, समाजमें जो पोषणरूप सेवाहै वह परिश्रम रूप सेवाकी सहकारितासे धनको उत्पन्न करके समाजका पोषण करती है। और समाजमें जो परिश्रम रूप सेवा है वह अपने शारीरिक परिश्रमसे समाजके यावत् परिश्रम साध्य कर्मों को करती है। इस प्रकार ये तीन श्रेणियोंके सेवा-कर्म ज्ञान और धनका उपार्जन करते हुए समाजका पोषण कर उसे उन्नत बनाये रखते हैं।

किन्तु ज्ञान और धन, इन दोनोंके उपार्जनके मार्गमें दो विघ्न हैं—एक बहिर्जातीय, दूसरा अन्तर्जातीय। जब एक जाति वा समाज दूसरी जाति वा समाज पर चढ़ाई करता है, तब जिस जाति वा समाज पर चढ़ाई होती है उस जाति वा समाज पर बहिर्जातीय विघ्न उपस्थित होता है। और जब किसी समाजके मनुष्य परस्पर अधिक अन्याय-व्यवहार* करने लगते हैं तब उस समाजमें अन्तर्जातीय विघ्न उपस्थित होता है।

इन दोनों विघ्नोंसे जब तक कोई समाज अच्छी तरह रक्षित न हो, तब तक वह समाज ज्ञान (पारमार्थिक ज्ञान और व्यवहारिक ज्ञान) और धनका उपार्जन भलीभांति न कर सकेगा। और यदि पूर्वमें ऐसी रक्षित अवस्थामें रहकर कोई समाज इन दो साधनोंका उपार्जन अच्छी तरह कर चुका होगा तो पुनः जब कभी वह अरक्षित अवस्थाको प्राप्त होगा तभी इन दो साधनोंका लोप उस समाजसे होजायगा। जब सुखके साधन लोप होंगे तो दुःख आप ही आप उपस्थित होंगे। अतएव दुःखके जितने हेतु हैं सब धर्मके विपरीत होने से अधर्म कहे जाते हैं। समाजको इन विघ्नोंसे बचाये रखनेके लिये समाजमें जो रक्षा रूपिणी समाज सेवा है वह, शिक्षा रूपिणी समाज सेवा की सहकारिता से अपनी शूरता और शारीरिक बल का यथा योग्य प्रयोगके द्वारा समाजका रक्षण कार्य करती रहती है।

समाज सेवा पर अबतक हमने जो विचार किया है उससे यह पायजाता है कि मनुष्य-समाजके पालनके लिये जो चार प्रकारकी सेवा साध्य है उसके साधन पांच हैं और साधक भी पांच हैं, यथाः—

समाजसेवाके पांचसाधन और पांच साधक।

* नीति और धर्म विरुद्ध व्यवहार चाहे वे राजासे दण्डनीय हो वा न हो!

साध्य	साधन	साधक
	(क)	(क)
१. शिक्षा ……	ज्ञान (व्यवहारिक और पारमार्थिक) ……	मानसिक परिश्रम।
	(ख)	(ख)
२. रक्षा ……	दैहिक बल, व्यवहारिक ज्ञान। …………	शूरता।
	(ग) (घ) (ङ)	(ग)
३. पोषण ……	कृषि, शिल्प, व्यापार। ………	व्यवहारिक ज्ञान-कुशलता* (दक्षता), शारीरिक परिश्रम, (ङ) धन।
४. परिश्रम ……	पारमार्थिक ज्ञान। …………	(घ) शारीरिक परिश्रम।

इन ५ साधकों में से ४ साधक (क. ख. ग. घ.) मनुष्य रूप होते हैं, और पांचवां (ङ) साधक मनुष्य से भिन्न जीव और जड़ पदार्थ होते हैं।

मनुष्यरूप चार साधकोंको समाज अपनेमेंसे खड़ा करता है और पांचवां साधक इस समाजकी निवासभूमि देती है। इतर जीव और जड़ पदार्थ रूपसे भूमि‡ जो कुछ देती है उसको धन कहते हैं। जैसे सन्तानकी पालना माता पिताके द्वारा होती है वैसे ही मनुष्यकी पालना निवासभूमि और समाज के द्वारा होती है। जैसे माता पिता की सेवा-भक्ति करना सन्तानका कर्तव्य है, वैसे ही निवास भूमिसे प्रेम+ करना और समाजकी सेवा-भक्ति करना मनुष्यका कर्तव्य है। अपने समाज तथा निवास भूमिकी (राष्ट्रकी) भक्ति (सप्रेम सेवा) करनेवाले मनुष्य "देश हितैषी", "समाज हितैषी", "देश सेवक", "देश वत्सल", "जाति वत्सल", "लोक वत्सल", "लोक हितैषी", "लोक सेवक" इत्यादि सन्मान सूचक नामोंसे पुकारे जाते हैं।

ऊपर कहे हुए पांच साधकोंमेंसे मनुष्यरूप साधक "सकर्मक साधक" है, और भूमि "अकर्मक साधिका" है। इस कारण समाजके सुख दुःख का हेतु "सक-

---

* विज्ञानसे काम लेने की बुद्धि।

‡ "भूमि" शब्दसे जल, स्थल, अन्तरिक्ष तीनों का संकेत किया गया है।

+ स्वदेश प्रेम पर वेदों की आज्ञा जानना हो तो "हिन्दुओंकी राज-कल्पना" नामक पुस्तकमें "देश-भक्ति" शीर्षक लेख देखिये।

र्मक साधक" ही समझा जाता है। इसी से समाजको सुख होनेसे "सकर्मक-साधकोंको" पुण्य हुआ और दुःख होनेसे पाप हुआ ऐसा माना जाता है। समाजका प्रत्येक समर्थ स्त्री पुरुष "सकर्मक साधकों" की चार श्रेणियोंमें बटकर अपनी अपनी श्रेणीके कार्यके (शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रमके) अनुसार समाजकी सेवा करता रहता है।

वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्य जातियाँ जिस समय घोर असभ्यता रूप अन्धकार में डूबी हुई थीं, उस समय भारतीय आर्य जातिके प्रधान पुरुषों ने मिलकर भारतीय राष्ट्रके निर्माण में समाज-सेवा रूप कर्मों का विभाग कर, अपने समाजके पुरुषोंके गुण और कर्मके अनुसार‡ उनको उपरोक्त चार श्रेणियोंमें स्थापित करके—

चतुर्वर्ण अर्थात् भारतीय समाज-सेवकोंकी श्रेणी।

प्रथम शिक्षा-श्रेणी का नाम ब्राह्मण,
दूसरी रक्षा-श्रेणी का नाम क्षत्रिय,
तीसरी पोषण-श्रेणी का नाम वैश्य, और
चौथी परिश्रम-श्रेणी का नाम शूद्र रख दिया था*

इन्हीं श्रेणियों का सूचक ऋषियों की भाषा में वर्ण शब्द है।‡‡

---

‡ "ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः॥"
अर्थ—"हे परन्तप, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंके कर्म उनके स्वभाव जात गुणोंके अनुसार विभक्त हुए हैं। (गीता अ. १८ मं. ४१)।

* "लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुख बाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्त्तयत्॥
अर्थ—लोकोंकी (समाजकी) विशेष वृद्धि (सम्यक् उन्नति) के लिये मुख बाहु ऊरु और पैर से (गुणकर्मानुसार) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको क्रमसे बनाया है (निर्धारित किया है)
(मनु. अ १। ३१)

‡‡ वर्ण शब्दकी व्युत्पत्ति है—वर्ण=प्रेरणा। अर्थ—जो वेद वाक्योंके द्वारा आचारादिमें प्रेरित किया जाता है। इस व्युत्पत्तिसे ऐसा समझ पड़ता है कि वेदकी आज्ञासे वर्णोंकी सृष्टि हुई है। वर्ण शब्दका अर्थ "रङ्ग" और "गुण" भी है। और क्लीव लिङ्गमें इसका अर्थ "अक्षर" और "जाति" भी होता है।

३ परिच्छेद ।

वर्ण धर्म अर्थात् समाज-सेवा रूप कर्मोंमें बड़े छोटे का विचार ।

मायानन्द—अब हमें समाज-सेवा रूप कर्मोंमें बड़ाई छुटाईका विचार करना है, और देखना है कि समाज सेवकोंकी ये चार श्रेणियाँ अपनी अपनी श्रेणीके नियत कर्मोंको करती हुई, एक श्रेणी अन्य तीन श्रेणियोंको किस तरह सहायता पहुंचाती है और साथ ही साथ समाजको तथा अपनी सेवा भी कैसे करती है ।

समाजकी स्थिति और उन्नति कारिणी धार्मिक शिक्षाकी देनेवाली शिक्षक-श्रेणी (ब्राह्मण वर्ण) अपने मानसिक परिश्रमसे जो व्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञानका संग्रह करती है उसे वह, रक्षक-श्रेणी (२) (क्षत्रिय वर्ण), पोषक-श्रेणी (३) (वैश्य वर्ण), और परिश्रमी-श्रेणी (४) (शूद्र-वर्ण) को देती है । चतुर्थ श्रेणी शूद्र-वर्णके लिये विशेष कर पारमार्थिक ज्ञानकी आवश्यकता है ।

१-शिक्षा अर्थात् ब्राह्मण वर्णका धर्म ।

ब्राह्मण वर्णके दिये हुए इस ज्ञानके पलटे उसको (२) क्षत्रिय वर्णसे रक्षा, (३) वैश्य वर्णसे जीवन निर्वाहका साधन, और (४) शूद्र वर्णसे परिश्रम साध्य सेवा मिलती है । अतएव ब्राह्मण, ज्ञानके संकलन और वितरणसे जीविका निर्वाह करने वाले होनेके कारण ज्ञानजीवी हुए । और जब कि इन्हींके द्वारा संगृहीत ज्ञानके भंडार, शास्त्र हैं; इस हेतु इनको शास्त्रजीवी भी कह सकते हैं ।

(क) ब्राह्मणोंसे क्षत्रियोंको धनुर्वेद अर्थात् बहिर्जातीय विघ्नोंको दमन करनेके लिये शत्रुओंसे लड़नेका ज्ञान (युद्ध विद्या) * और राजनीति एवं व्यव-

---

* महाभारतके समय तक हिन्दुस्थानमें युद्ध विद्याका पूर्ण प्रचार था । गत यूरोपियन महा युद्धमें जर्मनीने जितने प्रकारके अस्त्र-प्रयोगोंका परिचय दिया है उनसे भी अधिक अस्त्रोंका प्रयोग-कौशल भारतीय आर्यों को विदित था । अब भारतमें इस विद्याका अभाव होगया है । धनुर्विद्याकी एक भी शास्त्रीय पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है । किन्तु भविष्यतमें भारतको पूर्ण स्वायत्त शासन (Home rule) के मिल जाने पर पुनः युद्ध विद्याकी शिक्षा आरम्भ हो जायगी । अतएव अभीसे इस विद्याकी चर्चा एवं उसका सङ्कलन कार्य आरम्भ कर देना अच्छा होगा ।

हार शास्त्र अर्थात् प्रजापालन-विद्या एवं अन्तर्जातीय-विघ्नोंका दमन करनेके लिये वादियोंके दावोंका विचार कर न्याय करनेका ज्ञान मिलता है। ये सब व्यवहारिक ज्ञानके अन्तर्गत हैं।

(ख) ब्राह्मणोंसे वैश्योंको अर्थशास्त्र अर्थात् कृषी, शिल्प और वाणिज्य विषयक ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञानको ये अपने बुद्धि-कौशलसे और शारीरिक परिश्रम करने वाले शूद्रोंकी सहायतासे भूमि (जड़ पदार्थ मात्र) पर प्रयोग करके अन्नादि धनका उपार्जन करते हैं और उसे आवश्यकताके अनुसार शेष तीन श्रेणियोंमें वितरण करते हैं।

(ग) ब्राह्मणोंसे शूद्रोंको पारमार्थिक शिक्षा मिलती है। और ये शेष तीनों वर्णोंकी सेवा शारीरिक परिश्रमसे, निष्कपट हो कर करते हैं।

इन धार्मिक (लौकिक) शिक्षाओंके अतिरिक्त व्यक्तिगत पारलौकिक श्रेयोकारिणी शिक्षा भी समाजके लोगोंको ब्राह्मणोंसे ही मिलती है।

नोट—यद्यपि भारतकी वर्त्तमान परिस्थितिमें ऊपर कही हुई बातोंका अभाव दीखता है तथापि "ब्राह्मण" शब्दके बदले यदि विद्वान शब्दका उपयोग किया जाय तो मालूम होगा कि ये बातें अब भी जारी हैं। हां, ये बातें इस समय भारतमें कम हैं और अन्य स्वाधीन एवं उन्नत राष्ट्रोंमें अधिक हैं*।

यदि समाज-शिक्षक श्रेणी याने ब्राह्मण वर्ण, ज्ञानका यथोचित उपार्जन और वितरण न करे, अथवा इसके आकलन‡ और वितरणमें अवहेलना करें अथवा इसका अनुचित संकलन+ और वितरण करे तो सम्पूर्ण समाजका, ज्ञानके विना निस्तेज, निर्बल, कार्यमें अकुशल और कपटी होकर दुःखके कूपमें गिरजाना संभव है। जैसे अंधियारेमें दीपक लेकर बीहड़ भूमि पर चलने वाले मनुष्यका, दीपकके अकस्मात् बुझ जानेसे, गड्ढेमें गिरजाना सम्भव है।

अतएव, सामाजिक श्रम अर्थात् समाज-सेवाके विभागके समय समाजकी शिक्षारूपी सेवाके लिये जब शिक्षकोंका निर्वाचन (चुनाव) हुआ था तब वे ही

---

* ब्राह्मणोंके द्वारा लौकिक विद्या (उपवेद) के प्रचार द्वारा एवं वैश्योंके उद्योग तथा शूद्रोंकी सहायतासे और क्षत्रियोंके राजनैतिक प्रबन्धसे भारतकी सुखोन्नति कहां तक चढ़ी बढ़ी थी यह जिनको जानना होवे अवश्य Hindu Superiority नामक ग्रंथ देखें।

‡ अनुसन्धान वा खोज करके संग्रह करना।

\+ अर्थ, टीका वा व्याख्या करना।

लोग चुने गये थे जिनमें मानसिक श्रम-सामर्थ्य तथा सात्विक गुण सबसे अधिक पाये गये। अथ, जिन्होंने समाजकी इष्ट चिन्तासे ऐसे श्रम-विभागकी कल्पना की थी, उनसे अधिक मानसिक श्रम सामर्थ्य (ज्ञान वा बुद्धि) अन्य किसमें रही होगी? अतः, जिन्होंने सर्व प्रथम इस श्रम-विभागकी कल्पना की थी वे ही प्रथम श्रेणीके अधिकारी हुए, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण। और जब इनमें समाज-तत्व का ज्ञान था तभी तो ये उसके रूपकी भी कल्पना करनेमें समर्थ हुए थे। "ब्राह्मण" शब्दका शब्दगत तथा प्रचलित अर्थ "ब्रह्मको जाननेवाला" होता है, परन्तु इस शब्दका दार्शनिक विचार-संगत अर्थ "ब्रह्मके दृश्य रूप समाजको जो जानता है" ऐसा होता है। श्री गीतामें भी "ब्रह्म, ब्रह्मा और यज्ञ" शब्दोंसे श्री कृष्ण भगवान्ने समाजको ही लक्षित किया है, (गी० अ० ३ मं० १०। १५) यह बात उपयुक्त अवसर पर समझाई जायेगी।

ब्राह्मणका एक नाम "अग्रजन्मा" है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि श्रेणी-विभाग कालमें ये ही पहले पहल प्रथम श्रेणीमें स्वीकृत हुए थे। भारतीय आर्य जाति में जो "गोत्र" प्रचलित है, उन गोत्र पतियोंकी नामावलिसे भी यही बात समझी जाती है कि उन ऋषियोंने—जोकि अपने अपने परिवारके नेता वा मुखिया थे—सर्व प्रथम सामाजिक श्रम-विभागकी कल्पना की थी, और वेही पहले पहल समाज-सेवाकी प्रथम श्रेणीमें अर्थात् ब्राह्मण नामसे स्वीकृत हुए; किन्तु उनके परिवारके अन्य पुरुषगण अपने अपने गुण-कर्मानुसार अन्यान्य श्रेणियोंमें स्वीकृत हुए*।

२—रक्षा अर्थात् क्षत्रिय वर्णका धर्म।

समाजकी रक्षाका कर्म करनेके लिये, समाजसे उन मनुष्योंका चुनाव हुआ था जो स्वभावतः मारने मरनेमें निडर थे, याने शूर थे। इनमें जो बल और शूरतामें सबसे श्रेष्ठ समझा गया वह राजा बनाया गया‡ और इस रक्षक श्रेणीका नाम "क्षत्रिय" अर्थात् जो क्षत् याने शत्रुके आघातसे समाजको बचाता है, रखा गया। यह क्षत्रिय श्रेणी, ब्राह्मणोंके द्वारा निर्वाचित होकर उन्हींसे समाज पालन, शासन तथा युद्ध विद्या प्राप्त करती थी।

---

* भिन्न भिन्न वर्णोंमें एक ही गोत्रका पायाजाना इसका प्रमाण है।

‡ आदिमें समाज-शासक वा नेता "प्रजापति" कहाता था। पीछे "राजा" शब्द उत्पन्न हुआ। श्रम-विभाग द्वारा क्षत्रिय वर्णकी सृष्टिके पूर्व, प्रजापति-गण पारलौकिक शिक्षाके द्वारा अर्थात् यह कर्म पाप है वह कर्म पुण्य है

राजाकी अधिनायकतामें, समाजकी, बहिर्जातीय (विदेशी) और अन्तर्जातीय (देशी) शत्रुसे अभाव रूपी सेवाके बदले इस श्रेणीको ब्राह्मण वर्णसे ज्ञान, वैश्य वर्णसे धन, और शूद्र वर्णसे शारीरिक परिश्रम रूपी सेवा मिलती है*अतएव, समाज रक्षक क्षत्रिय वर्णकी जीविका समाजके शत्रुओंको बल और शस्त्रसे दमन करना एवं दण्ड देना रूप कर्मोंके द्वारा निर्वाहित होनेसे ये शस्त्रजीवी कहे जाते हैं।

ऐसे पारलौकिक दण्ड-पुरस्कार की दुहाई देकर समाजका शासन करते थे। जब इस नीतिसे काम न चल सका तब श्रम विभागके समय कर्दम प्रजापतिका पुत्र अनङ्ग सर्व प्रथम क्षत्रिय उपाधि प्राप्त कर समाज-शासक हुआ और दण्ड-नीतिसे काम लेने लगा। अनङ्गका पुत्र अतिबल जब शासक हुआ तब उससे भी उचित रूपसे प्रजा पालन न हो सका। उसका पुत्र वेण जब शासन कर्त्ता बनाया गया तब वह ऐसा दुराचारी निकला कि ब्राह्मणोंने उसे जानसे मार डाला। वेणके स्थानमें पृथु हुआ गया। पृथु ऐसा बुद्धिमान और उद्योगशील एवं प्रतापी निकला कि उसने राष्ट्रका सुसंगठन किया और कृषिसे, जङ्गलसे, खानोंसे और समुद्रगर्भसे इतना धन (National wealth) उत्पन्न किया कि सब प्रजाकी अत्यन्त सुखोन्नति हुई; जिससे तुष्ट होकर लोगोंने उसको राजाकी पदवी दी। (महाभारत

शान्ति पर्व अ० ५९)

राजा शब्दकी व्युत्पत्ति है "रञ्ज्+अन्" जिसका अर्थ है तृप्त करना, तुष्ट करना। इस व्युत्पत्तिके अनुसार वही समाजपति या राष्ट्रपति या नृपति राजा नामके योग्य होता है जो प्रजाको याने समाजके मनुष्योंको तृप्त अर्थात् सुखी कर सकता है। राजा पदवी सर्व प्रथम पृथु नृपतिको मिली थी क्योंकि उनके शासनसे सभी प्रजा तृप्त और सुखी हुई थी।

यथा—"अनुरागात्ततस्य वीरस्य नाम राजेत्यभाषत।"

जब पृथु राजा बनाया गया था तब समाजके सब लोगोंने मिलकर उसका अभिषेक किया था अर्थात् सर्व साधारणकी सम्मतिसे याने चुनावसे वह राजा बनाया। यथा—

"देवैर्विप्रैस्तथा सर्वैरभिषिक्तो महात्मना"।

इस विषयमें यदि और अधिक जाननेकी इच्छा हो तो पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीकी "हिन्दुओंकी राज कल्पना" नामक पुस्तक देखो।

(ब्राह्मणके) ज्ञान और [शूद्रके] परिश्रमसे [वैश्योंके द्वारा] उत्पन्न धनका भाग, मुद्राके रूपमें, या माल्लोंके रूपमें (in Kind) करके नामसे राजाको पहुँचता है। कर प्रजा मात्रको देना पड़ता है चाहे प्रत्यक्ष रूपसे देवें या अप्रत्यक्ष रूपसे।

(क) राजासे रक्षित होकर ब्राह्मण वर्ण निर्विघ्नतासे व्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञानका आकलन करके अन्य तीन वर्णोंमें वितरण करते हैं। व्यवहारिक ज्ञानके अन्तर्गत देश-रक्षण, समाज-शासन और समाज-पालन ये तीन बातें हैं। प्रथम दो की शिक्षा क्षत्रिय वर्णको ब्राह्मणोंसे मिलती थी*। और समाजपालन-विद्या (अर्थ-शास्त्र) जिसके द्वारा धनकी उत्पत्ति की जाती है, वैश्य वर्णको मिलती थी। पारमार्थिक ज्ञानका वितरण, ब्राह्मण वर्ण, अपनेमें और अन्य तीनों वर्णोंमें, आचार और उपासनादिकी शिक्षाके द्वारा करते थे और अब भी करते हैं; परन्तु इस समय ब्राह्मणोंमें जो केवल इसी कर्मसे जीविका करते हैं और पण्डित पुरोहित कहाते हैं उनमें पूर्वकी नाईं वह उत्साह नहीं है।

(ख) राजासे रक्षित होकर वैश्य वर्ण, ब्राह्मणोंसे प्राप्त समाज-पालन-विद्याका उपयोग, कौशल पूर्वक करके, याने कृषि, शिल्प और वाणिज्यके द्वारा समाज-पोषणोपयोगी और सुख भोग्य वस्तुओंको निर्विघ्नतासे उत्पन्न एवं उपार्जन करके अपनेमें और अन्य तीनों वर्णोंमें वितरण करता है। वैश्योंके व्यवसायमें जहां तक शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता या प्रयोजन होता है वहां तक ये शूद्रोंसे सहायता लेते हैं।

(ग) राजासे रक्षित होकर शूद्र वर्ण अपने श्रम-सापेक्ष-सेवा-कर्मोंसे अपनी और अन्य तीनों वर्णोंकी सेवा निर्विघ्नतासे करता है; और ब्राह्मण प्रदत्त पारमार्थिक ज्ञानकी सहायतासे वह सन्तोष पूर्वक निष्कपट भावसे (अर्थात् बिना कामचोरी किये) सेवा कर्म कर सकता है।

राजा यदि समाजका शासन पालन और रक्षण कार्य न करे, अथवा इन कार्योंके करनेमें अवहेलना करे, तो ब्राह्मणोंको ज्ञानके सङ्कलन तथा वितरणमें विघ्न होगा, वैश्योंको धनके उपार्जन और वितरणमें विघ्न होगा, शूद्रोंको श्रम साध्य कर्मोंके करनेमें असुविधा होगी, और शस्त्रजीवी(१) क्षत्रियगण दुर्बल होकर दूसरे किसी समाज द्वारा आक्रान्त होंगे और लड़ाईमें हार जायेंगे मारे जायेंगे। तब चारों वर्ण याने सारा समाज पराधीनता रूपी कूपमें जा गिरेगा।

समाजके पोषण कार्यके लिये समाजके उन मनुष्योंका चुनाव हुआ था

---

* वर्ण रक्षित स्वाधीन राष्ट्रोंमें इन विषयोंके शिक्षक विद्वानगण होते हैं। (१) अथ शस्त्र जीवी।

जो शूर तो न थे किन्तु बुद्धिमें चतुर थे, पर गोत्रपतियोंके तुल्य ज्ञानी न थे। इस श्रेणीका नाम वैश्य वर्ण रखा गया अर्थात् "विषय बुद्धि वाले"। विश् धातुसे वैश्य शब्दकी उत्पत्ति हुई है। विश् धातुका अर्थ "प्रवेश" (घुसना) है अर्थात् जिनकी बुद्धि सांसारिक विषयोंमें शीघ्र प्रवेश करती है।

३—पोषण अर्थात् वैश्य वर्णका धर्म।

यह वैश्य वर्ण, ब्राह्मणोंसे पदार्थ-विद्याका ज्ञान प्राप्त कर अपने बुद्धि-कौशलसे पोषणकार्यके अन्तर्गत कृषि आदि यावत् व्यापार करता है। जिस बात-को मैं यहां समझाना चाहता हूं उसका एक दृष्टान्त यह है—जिस समय पशु चर्म और वृक्षकी छाल पहिनी जाती थी उस समय किसी ऋषि या मुनिने (ब्राह्मण वा गोत्रपतिने) यह सोचा होगा कि चर्म और बक्कल (छाल) से भी उत्तम कोई पहिनने लायक वस्तु हाथ लगे तो अच्छा हो। निदान, जङ्गलमें ऐसी वस्तुका अनुसन्धान करते करते उसे ऐसा एक पेड़ मिला जिसके फलोंमें तन्तु ही तन्तु भरे हुए थे। उसने ये फल वैश्योंको देकर कहा कि इन तन्तुओंसे वस्त्र बन सकता है। वैश्योंने अपने बुद्धि-कौशलसे तकुआ तथा चर्खा बनाकर उन तन्तुओंका सूत काता और फिर सूतसे कपड़ा बुननेके लिये ताँत (करगटा) लिखाया कर कपड़ा बुना। कुछ दिनोंमें उन्होंने कपड़ा बुननेका शिल्प-कर्म खड़ा कर लिया। फिर शूद्रोंको उसमें काम करनेके लिये बुलाया, और किस तरह सूत काता जाता है फिर कैसे वस्त्र बुना जाता है आदि बातें सिखाकर उन्हें काम करनेको कह दिया*। इस तरह कपड़ा रूप जो धन उत्पन्न होने लगा उसको वैश्य वर्ण समाजमें (चारों वर्णोंमें) वितरण करने लगे। अन्तर्वाणिज्य रूप इस वितरणसे जो वस्त्र बच रहे उनको वे पार्श्ववर्ती अपर किसी देशमें, जहां के अधिवासियोंके साथ तत्काल कोई शत्रुता न थी, लेजाकर उनके विनिमयमें (बहिर्वाणिज्य) उस देशकी कोई ऐसी वस्तु जो अपने देश में नहीं होती थी, ले आने और अपने समाजमें वितरण करने लगे। इसी प्रकार अन्यान्य शिल्प-वाणिज्य व्यापारोंका भी हाल समझना चाहिये।

---

* इस समयके सदृश कारखानोंका प्रचार पूर्व कालमें नहीं था। शिल्पी लोग अपने अपने घरोंमें शिल्प कर्म किया करते थे अर्थात् Cottage industry (गृह-शिल्प) का प्रचार था। जो शिल्प-कर्म किसी अकेलेके और घरहीमें करने लायक नहीं था केवल उसीके लिये संभूय समुत्थानके नियमसे याने कम्पनी करके द्रव्य एकत्र किया जाता था और कारखाना खोला जाता था। देशमें धन उत्पन्न करना वैश्य वर्णका धर्म है इस लिये धनी वैश्यगण शिल्पियोंको सहायता देकर उनसे व्यवहार्य सामग्री उत्पन्न करवाते और स्वयं उसे खरीद कर बेंचते थे। ऐसा अब भी होता है। समाजको दारिद्र-दुःखसे बचाने वाले होनेसे शास्त्रकारोंने वैश्य वर्णका उपनाम "गुप्त" रखा है।

इस धन-वितरण रूप समाज-सेवाके (पोषण-कार्यके) बदले वैश्य वर्ण को राजासे रक्षा, ब्राह्मणसे व्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञान तथा शूद्रसे परिश्रम रूपी सेवा प्राप्त होती है।

(क) वैश्य वर्णके उपार्जित अन्न वस्त्रादि रूप धनसे ब्राह्मण वर्ण अपना निर्वाह करता हुआ ज्ञान का उपार्जन और वितरण समाजमें स्वच्छन्दता पूर्वक करता रहता है।

(ख) वैश्य वर्णके उपार्जित धनको करादि रूपसे प्राप्त कर राजा अपना निर्वाह करता हुआ बाहरी शत्रुसे देशकी रक्षा करनेके लिये शस्त्रजीवी क्षत्रियोंकी सेना संग्रह करता है और समाज-शासनके लिये राजनीति कुशल मंत्री, विचारक, विचारालय और शान्ति-रक्षक नियुक्त करता है, एवं समाज-पालनके लिये समाज-तत्वज्ञ, अर्थ शास्त्रज्ञ, आयुर्वेदज्ञ आदि मंत्रियोंकी नियुक्ति करता है तथा देशोन्नति कारक कर्मोंका और प्रजाकी स्वच्छन्दताका आयोजन (इष्टापूर्त कर्म) करता है।* इस तरह वैश्य वर्णसे क्षत्रिय वर्ण एवं अन्य वर्णोंके विद्वान राजकर्मचारी आदिकोंका निर्वाह होता है।

(ग) वैश्योंसे विशेष धन प्राप्त कर शूद्र वर्ण अपनी जीविका निर्वाह करता हुआ अन्य तीन वर्णोंकी श्रम-साध्य सेवा करता है।

---

* यज्ञ और देव मन्दिर, विद्यालय, अस्पताल, सड़क, बाउली, कुआ, तालाब नहर, रोशनी आदि जितने प्रकारके सुखोत्पत्ति कारक कर्म हैं वे सब "इष्टापूर्त" के अन्तर्गत हैं। राज धर्मका विस्तृत विवरण जानना हो तो स्मृतियोंको देखिये। स्मृतियोंमें वर्णित राजधर्मका, समयानुसार व्याख्या सहित प्रकाशित होना लोक-शिक्षाके लिये अत्यंत आवश्यक है। इससे जन साधारणको राजनीति सीखनेमें सहायता मिलेगी। महाभारतमें लिखा है कि जैसा सूर्य अपनी किरणोंसे जलको खींचकर पुनः वृष्टि रूपसे उसको पृथ्वीके उपकारके लिये लौटा देता है वैसा ही धर्मज्ञ राजा करके नामसे धनको प्रजासे लेकर प्रजा-हितकारी कार्योंमें व्यय करता है। मनुस्मृति अ० ७। ३३ में लिखा है—

"एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥"

अर्थ—"ऐसा वर्त्ताव करने वाले शिलोञ्छसे भी (मांगा हुआ और बिना बुआ खेतोंके अन्नसे) जीते हुए राजाका यश लोकमें, जलमें तेलकी बूंदके समान

समाज-पोषक वैश्य वर्ण यदि धनकी उत्पत्ति, संग्रह और वितरण रूप कर्मों को न करे, अथवा इन कर्मोंके करनेमें अवहेलना करे* तो ब्राह्मण वर्ण द्रव्यकी दुष्प्राप्तिके कारण पारमार्थिक ज्ञानका आकलन स्वच्छन्दता पूर्वक न कर सके; व्यवहारिक ज्ञानके ग्राहकोंके अभावसे उसका, व्यवहारिक ज्ञानका आकलन कार्य बन्द हो जाय। व्यवहारिक ज्ञान वैषयिक (सांसारिक) उन्नतिका मूल है। अतः इस मूलके उच्छेदसे समाजकी उन्नतिमें बाधा पड़ेगी तथा उसकी अवनति होने लगेगी। शूद्र वर्ण परिश्रमोपार्जित जीविकाके अभावसे भिक्षाजीवी होजायगा। वैश्य वर्ण स्वयं कार्यमें अकुशल और दरिद्र हो जायगा। राजा धनके अभावसे शस्त्रजीवी शान्ति रक्षकोंका तथा विचारक आदि भिन्न भिन्न राज कर्मचारियोंका पालन न कर सकेगा। प्रजा-हितकारी सब कार्य बन्द हो जायेंगे। शस्त्रजीवी क्षत्रियगण उद्दण्ड होकर जीविकाके लिये लूट मार मचावेंगे। धनके अभावसे राजा सेना रखनेमें असमर्थ हो जायगा; तब बहिः शत्रु देश पर आक्रमण करके ऐसे समाजको पराधीनता रूप कूएमें डालदेगा।

फैलता है। इस वचनसे राजाओंके लिये राजस्व (कर) का अपने सुख ऐश्वर्य्यमें खर्च करना धर्म विरुद्ध जान पड़ता है। किसी किसी नीति विशारदोंकी ऐसी राय है कि यदि राजा सुख ऐश्वर्य्यमें (Pomposity) न रहेगा तो प्रजा उसे न मानेगी। जो कुछ हो बहुत दिनोंसे "राजा" और "सुख ऐश्वर्य्य" दोनों शब्द एक समान अर्थके बोधक होगये हैं। परन्तु सुना है कि मुसलिम राष्ट्रकी स्थापनाके आरम्भमें एक राष्ट्रपति अपनेको राष्ट्रका सेवक मानकर वेतन स्वरूप प्रत्यह उतना ही धन राजकोषसे लेता था जितनेसे कि एक सामान्य व्यक्तिके तुल्य उसका निर्वाह हो सकता था। किंवदन्ती है कि ईद्के रोज़ उसके लड़के फटे कपड़े पहिने रहगये, स्त्रीके कहने पर भी उसने राजकोषसे न तो अधिक धन लिया और न अग्रिम वेतन!

* "जो कोई वैश्य 'कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य' इन कर्मोंमेंसे एक या ज्यादाको करके देशके धनको शेष तीनों वर्णोंके गुजारेके लिये न बढ़ावे तो वह अपने धर्मसे पतित हो जाता है या पापी बन जाता है"। राजकुमार मोहनबल कृत "मानव धर्मसार" पृष्ट १०० देखो। इस पुस्तकका पाठ सबको करना चाहिये।

स्वराज्य सम्बन्धी नये सुधारमें औद्योगिक (Industry and Commerce) विभाग पर देश वासियोंको अधिकार मिलजानेके कारण

शारीरिक परिश्रम द्वारा समाजकी सेवाके लिये समाजके उन मनुष्योंका चुनाव हुआ था जो शूरता और बुद्धि-वृत्तिमें हीन थे, परन्तु शारीरिक परिश्रम करनेका उपयुक्त बल रखते थे। यह शूद्र वर्ण, ब्राह्मणोंके द्वारा निर्वाचित होकर उन्हींसे पारमार्थिक ज्ञान प्राप्तकर, श्रमसे मनको जो अवसाद होता है उसको जीतता हुआ, समाजकी श्रम-साध्य सेवा सन्तुष्ट चित्तसे करता है। इस श्रम-साध्य समाज सेवाके विनिमयमें उसे ब्राह्मण वर्णसे पारमार्थिक ज्ञान, राजासे रक्षा और वैश्य वर्णसे धन मिलता है एवं स्ववर्णसे श्रम-साध्य सेवा भी मिलती है* अतएव शूद्र वर्णकी आजीविका शारीरिक श्रमके द्वारा होनेसे यह वर्ण श्रमजीवी कहाता है।

४—परिश्रम अर्थात शूद्र वर्णका धर्म।

इस श्रेणीका नाम शूद्र, शुच=रक्षित करना, इस लिए हुआ है कि यह तीनों वर्णोंकी शुद्धताकी रक्षा करने वाली है; ऐसा किसी किसी पण्डितोंका मत

आजकल देशमें बहुतसी कम्पनियाँ खुल रही हैं। इनमें भाग लेना उन लोगोंका भी धर्म है जो स्वयम् तो वैश्य नहीं हैं किन्तु हिस्सा खरीदनेमें समर्थ हैं। विद्वानोंको चाहिये कि वे इन औद्योगिक चेष्टाओंमें अपनी विद्यासे सहायता पहुँचावें। (इस ओर भविष्यत्में हिन्दु विश्वविद्यालय से यथेष्ट सहायता मिलनेकी आशा है)। एवं राज्य-प्रबन्ध कर्ताओंको चाहिये कि वे ऐसा प्रबन्ध करें जिससे इन कम्पनियोंको आवश्यक सहायता पहुँचती रहे और उनकी औद्योगिक चेष्टायें सफल हों।

समाजके लोगोंको चाहिये कि इन कम्पनियोंके द्वारा प्रस्तुत पदार्थ गुणमें कुछ हीन होने पर भी उनका व्यवहार करें, क्योंकि ऐसा करना उनके लिये धर्म्य है। जापानकी दियासलाई पहिले पहल ऐसी खराब बनती थी कि विलायती दियासलाईके सामने उनका कारखाना बन्द होजाना चाहिये था; किन्तु नहीं, हमारे देशके वैश्योंने उसे इस देशमें चला ही दिया। और अब जापानकी दियासलाई बिलायतीके बराबर होगई है। अतएव वैश्योंको अपने देशकी वस्तुके लिये भी वैसा ही यत्न करना चाहिये जैसा कि उन्होंने जापानी मालके लिये किया है। इस तरह जब देशी मालकी खपत रहेगी तो कारखाने भी जिन्दे रहेंगे और अपने मालको भी सुधार सकेंगे।

शूद्र वर्णमें वृत्ति भेदसे जो जाति भेद हुआ है उसके कारण कहीं कहीं नीच जातिको ऊँची जातिसे प्रत्यक्ष सेवा नहीं भी मिलती है।

है। प्राचीन कालमें शूद्र वर्णसे ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंको रसोईसे लेकर गृहस्थीके यावत् श्रम-साध्य कार्योंमें सेवा रूप सहायता मिलती थी। किन्तु वर्त्तमान कालमें रसोईका कर्म बहुधा ब्राह्मणोंके माथे पड़ा है; क्योंकि विद्याके आहरण और वितरण कर्मोंसे इन्होंने बहुत दिनोंसे छुट्टी लेली है। क्षत्रिय और वैश्य भी इनकी देखा देखी अपनी अपनी रसोई आप करने लगे,* तथापि पूर्व कालकी स्मृतिको बनाये रखनेके लिये प्रदेश विशेषमें बड़े बड़े भोजके समय शूद्रोंसे (ढीमर-कहारसे) अलोना शाक बनवा लिया जाता है; और प्रदेश विशेषमें ये लोग भोजन-गृह (होटल) भी रखने लगे हैं‡।

यदि श्रमजीवी शूद्र वर्ण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और स्ववर्णकी गृहस्थी सम्बन्धी श्रम-साध्य सेवा न करे; और वैश्योंको कृषि, शिल्प वाणिज्यादिमें शारीरिक परिश्रमसे सहायता न दे तो कुछ दिनों तक समाजमें इतनी गड़बड़ मची रहे कि जिसका ठिकाना नहीं। फिर यह गड़बड़ी तब तक नहीं मिट सकती जब तक कि समाजके शेष तीन वर्ण अपनेमेंसे कुछ लोगोंको चुन कर फिरसे श्रमजीवी श्रेणी न खड़ी कर लेवें। श्रमजीवी श्रेणीके अभावमें समाज सुखी नहीं रह सकता।‡ पुराण ग्रन्थोंमें एक आख्यायिका लिखी है कि एक समय लक्ष्मणजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे निवेदन किया था कि पृथ्वी पर गरीब लोगोंका होना भगवान्के लिए अपयशकी बात है। श्रीरामचन्द्रजीने उस समय इसका कुछ भी उत्तर न दिया। पीछे एक दिन लक्ष्मणजीकी शिक्षाके लिए उन्होंने एक माया रची। एकाएक पानी बरसने लगा। पानीके वेगसे महलके छप्परकी खपरैलसे पानी टपकने लगा। श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे टपका सुधरवानेके लिए कहा। लक्ष्मणजी टपका सुधारने वालोंको बुलानेके लिये जब किसी नौकरको आज्ञा देने गये तो महलमें कोई नौकर न देख पड़ा। तब लक्ष्मणजी स्वयम् टपका सुधारने वालोंकी खोजमें निकले। जहां घरकी छावनी करनेवाले

---

* इससे स्वामीजीका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग शूद्र वर्णसे अपनी रसोई कराया करें। सत्वगुण-विशिष्ट और शुद्ध पवित्र व्यक्ति ही यथार्थमें पाक कार्यका अधिकारी है। यहाँ स्वामीजीका अभिप्राय ब्राह्मणोंकी स्वकर्म-भ्रष्टता रूपी हीन अवस्थाका चित्र दिखाने मात्रसे है।

‡ यह बात पंजाबमें है।

‡ आजकलकी हड़ताल (Strike), जिसको धर्मघट भी कहते हैं इसका दृष्टान्त है। बङ्गला शब्द "धर्मघट" का अर्थ है Union "एका" जिसका कार्य हड़तालसे प्रकट होता है।

बनिहार रहते थे वहां जाकर लक्ष्मणजीने एकसे कहा, "भाई, मेरा घर चू रहा है, चलकर सुधार दो।" उसने जवाब दिया "मेरा भी घर चू रहा है और मैं भी टपका सुधारनेवालोंकी खोजमें बैठा हूं, और दूनी बनी देनेको तैयार हूं।" इसी तरहका जवाब जब लक्ष्मणजीको कईएकोंसे मिला तब उनको खेद हुआ और मन ही मन प्रभुसे क्षमा माँगी। तत्काल मायाका खेल भी बन्द होगया।

इस कथासे यह तात्पर्य्य है कि यदि श्रमजीवी श्रेणी समाजमें न हो तो समाजके प्रत्येक परिवार और मनुष्यको अपना काम आप करना पड़े। अपना सब काम वही मनुष्य आप साध सकता है जिसकी आवश्यकतायें उतनी ही हैं जितनी कि एक जङ्गली मनुष्य या पशुकी रहती हैं। यदि समाजसे "परिश्रम" ही उठ जाय, जैसा कि ऊपर कहे दृष्टान्तमें बनिहारलोग अपने घरका टपका भी आप सुधारना नहीं चाहते थे, तो समाज देखते देखते नाश हो जाय। जो जहाँ बैठा है, खड़ा है, पड़ा है, सोया है, वह वहीं उसी अवस्थामें ठिठुर कर रह जाय; क्योंकि हिलने डोलनेमें भी तो शरीरके अवयवोंको परिश्रम करना पड़ता है।

(क) यदि श्रमजीवी शूद्र वर्ण अपने श्रम-साध्य कर्मोंके करनेमें अवहेलना या कपट करे तो समाजमें दो तरहके दुःख उपस्थित हो जायँ। एक तो बकवाद और गुस्सा बढ़जाय। यह दुःख उन लोगोंको प्रत्यक्ष भोगना पड़ता है जिनको बेपरवाह नौकरों अथवा अजानी मज़दूरोंसे काम लेना पड़ता है। दूसरे, यह कि जितने शिल्पजात पदार्थ हैं सबका मूल्य बढ़ जाय; क्योंकि मन लगा कर श्रम करनेसे जिस कामको एक मनुष्य दिन भरमें कर सकता है उसीको वह बिना मनके करनेमें सवा, डेढ़ अथवा दो दिन लगादेता है। ऐसी कपट-बुद्धि अथवा कामचोर-स्वभाव जिस समाजके श्रमजीवियोंमें हो और यदि उसके साथ उद्यमशील किसी विदेशी समाजका अबाध वाणिज्य सम्बन्ध जुड़ जावे तो ऐसे समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करनेके लिये वैदेशिक सस्ते मालकी आयात बढ़ जायगी। देशका सोना चांदी रूप धन बाहर चला जायगा, एवं स्वदेश जात द्रव्योंकी दुर्मुल्यताके कारण ऐसे समाजके वहिर्वाणिज्यके लिये मालकी निकासी बन्द हो जायगी। इस दशामें देशकी धनोत्पत्ति रुक जायगी, साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज भी दरिद्र हो जायगा। शिल्प-वाणिज्यके अधिपति वैश्योंको कमिशन एजेन्ट या दलाल हो जाना पड़ेगा। जब वैश्य स्वयम् दलाल हो जायेंगे तब शूद्र वर्ण भीख मांगने लगेंगे।

(ख) ब्राह्मणोंको पहले जिस पदार्थ विज्ञानमें मानसिक परिश्रम करना

पड़ता था, उससे अब अवकाश पाकर वे अपनी इन्द्रियोंके सुख साधनोंके विषयोंमें अधिक मन लगावेंगे और उसीके साथ साथ उनकी पारमार्थिक ज्ञानानुशीलनी वृत्ति निस्तेज होकर उनमें लोभ और प्रवंचनादि वृत्तियाँ जो अब तक दबी थीं उठ खड़ी होंगी। ऐसी दशामें ब्रह्माकी भी सामर्थ नहीं कि वह ऐसे समाजको भावी दारुण दुर्दशासे बचा सके।

(ग) समाजके दरिद्र होजानेसे राजकोषमें चांदी सोना घट जायगा। राजा धनाभावसे न सेना रख सकेगा और न शान्ति रक्षा। इतनाही नहीं, अन्तः शत्रुसे पीड़ित होकर और बाहीः शत्रुसे आक्रान्त होकर सारा समाज पराधीनता रूपी कूपमें जा गिरेगा।

समाजके इष्टानिष्टकी दृष्टिसे अबतक हमने जो विचार किया उससे यही समझा गया कि समाजके लिये ये चारों वर्णोंके समाज सेवा रूप कर्त्तव्य एकसे ही उपयोगी हैं। इनमें न कोई सेवा कर्म छोटा है और न कोई बड़ा; क्योंकि समाजको हानि पहुंचाने वाली शक्ति चारोंमें समान है। उसी प्रकार जब इन चारों श्रेणियोंके सेवा-कर्मोंमें समाज-पालनी शक्ति भी समान है तब कोई भी वर्ण हेय नहीं हो सकता किन्तु सभी वर्ण आदरणीय हैं।

परन्तु जब हमारा ध्यान कर्मोंके बाह्य रूप गुणको छोड़ कर केवल श्रम पर जाता है तब हमको यही कहना पड़ता है कि श्रम सबसे बड़ा है। पैरमें विष्णुका वास कहा गया है और ब्रह्माके पैरसे शूद्रोंकी उत्पत्ति कही गई है। इन कल्पनाओंसे आर्य ऋषियोंने यह स्पष्ट बतलाया है कि जिस प्रकार विष्णुके द्वारा सबका पालन होता है उसी प्रकार मनुष्योंमें श्रम सबका पालक है।

किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति और नाशमें उतनी आश्चर्यकी बात नहीं है जितनी कि उसकी स्थितिमें है। "नव द्वारेका पींजरा तामें पंछी पौन। रहनेका अचरज है गये अचंभा कौन॥" किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति और नाश होना उतना कठिन नहीं है जितनी उसकी स्थिति कठिन है। यह स्थिति पालन-धर्म सापेक्ष है इसीसे भगवान्की त्रिमूर्त्तिकी* कल्पनामें विष्णु भगवान् को वैष्णवोंने सबसे श्रेष्ठ माना है।

---

* ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर। सृष्टि वा उत्पत्ति कारिणी शक्ति वा रजोगुणकी—ब्रह्मा; स्थितिकारिणी वा पालनी शक्ति वा सत्वगुणकी—विष्णु; नाश वा संहारकारिणी शक्ति वा तमोगुणकी—महेश्वरकहते हैं।

उत्पत्ति क्षणिक है, इसी प्रकार नाश भी क्षणिक है, पर इन दोनोंके बीचका जो समय है वही स्थितिका समय है। उत्पन्न वस्तुकी यह जो स्थिति रूप अवस्था है इस अवस्थाका प्रकाश, पालनी-शक्तिके कार्यसे देखनेमें आता है। यदि यह पालनी-शक्ति अपना कार्य न करे तो वस्तुओंकी उत्पत्ति और नाश विद्युत्वत् हुआ करे। परन्तु, उत्पन्न वस्तुकी स्वाभाविक गति जो नाशकी ओर है उसको पालनी-शक्ति ज्यों ज्यों नाशसे बचाती जाती है त्यों त्यों वह वस्तु अपनी गतिमें बाधा प्राप्त होनेसे अपनी स्थिति रूपी अवस्थाको अधिकसे अधिकतर प्रकाश करती है। अतएव, स्थिति और पालनका घनिष्ट सम्बन्ध है। सुतरां पालनी-शक्ति का आधार भगवान् विष्णु पदार्थ मात्रका स्थिति-स्थान माने जाते हैं।

श्रमको पैरके रूपमें कल्पना करके ऋषियोंने, जड़ और चेतनमें जो भेद है सो भी स्पष्ट कर दिया है। उद्भिद्-जीव पेड़ भी अपने मूल रूप पैर पर खड़े रहते हैं, परन्तु चलना फिरना रूप श्रमका कार्य नहीं करते। इस लिये वे जड़की कोटिमें गिने जाते हैं। और जङ्गम-जीव मात्र (स्वेदज अण्डज और जरायुज) अपने पैर पर स्थित होकर चलना फिरना रूप श्रमका कार्य करते हैं, इस लिये ये चेतनकी कोटिमें गिने जाते हैं। अतएव जिस समाजमें शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रम नामके श्रम रूप चलना फिरना आदि कार्य नहीं हैं—अर्थात् ब्राह्मणोंका विद्या-संग्रह-वितरण रूप मानसिक श्रम, क्षत्रियोंका याने राजाका प्रजा पालन तथा राष्ट्रकी उन्नति करना रूप श्रम, वैश्योंका शिल्प-वाणिज्यरूप श्रम, और शूद्रोंका सब श्रमका मूल शारीरिक परिश्रम नहीं है, वह समाज चेतन धर्मी मनुष्य समाज होकरके भी जड़वत् ही है।

वर्ण धर्म वा समाज-सेवा पर अबतक जो कुछ विचार किया गया उससे हम यद्यपि इस सिद्धान्त पर पहुंचे कि समाजमें चारों वर्णोंकी वा चारों श्रेणी की सेवा समान उपयोगी होनेके कारण वे परस्पर एक दूसरेके समकक्ष हैं, उनमें न कोई किसीसे छोटी है और न बड़ी; तथापि उनमें किसी एकके बड़े वा श्रेष्ट हुए बिना समाजका नियमन-कार्य नहीं चल सकता। क्योंकि जिस मण्डलीमें सबके सब आप बड़े हैं उस मण्डलीका किसी नियमके अनुसार चलना एक असम्भव बात है। अतएव आगे हमको यह अनुसन्धान करना होगा कि इन वर्णों वा समाज सेवाकी श्रेणियोंमें किस वर्ण वा श्रेणीमें समाज-नियामिका शक्ति है। जिसमें यह शक्ति पाई जायगी वही श्रेणी सबसे श्रेष्ठ मानी जायगी।

गणेश—चारों वर्ण किस प्रकारसे अपने अपने कर्मोंके द्वारा समाजकी सेवा करते हैं यह जैसा आपने समझाया, उससे मैं यही समझा कि चारों वर्णोंकी समष्टि ही समाज है, और इन वर्णोंकी परस्पर सेवासे इनकी संसारमें सुखोन्नति होती है। अतएव जिस वर्णका जो कर्म है वही उस वर्णका धर्म है। यदि इन चारों वर्णोंमें कोई एक वर्ण भी स्वकर्मका पालन उचित रीतिसे न करे तो चारों वर्णोंको याने समाजको दुःख पहुंचता है। किन्तु यह बात मेरी समझमें अच्छी तरह नहीं आई कि प्रत्येक मनुष्यको चारों वर्णोंकी सेवा किस प्रकारसे पहुंचती है जिससे उसका जीवन-निर्वाह होता है। अतएव इस विषयको और स्पष्टरूपसे समझा दीजिये।

समाज सेवाका माध्यम मुद्रा है।

मायानन्द—कदाचित् तुम्हारे ध्यानमें यह बात जमी हुई है कि तुम जिनकी नौकरी करते हो उनसे तुमको जो रुपये मिलते हैं उन्हींसे तुम्हारा निर्वाह होता है; किन्तु यथार्थमें केवल रुपयोंसे ही किसीका निर्वाह नहीं होता। रुपयोंके विनिमयमें जो दूसरोंकी सेवा उसको मिलती है उसीसे उसका निर्वाह यथार्थमें होता है। रुपया निमित्त मात्र है। प्रचलित मुद्राको सेवाका साक्षी पत्र या दर्शनी हुण्डी समझना चाहिये। जब जिसको जिससे जितनी सेवा मिलती है, तब वह उसको उतनी मुद्रा बदलेमें देता है। तुम्हारी नौकरीके बदले तुम्हारे मालिकने तुम्हें जो कुछ मुद्रा दी वह मानो समाज पर उन्होंने हुण्डी लिखदी। इस हुण्डीका अर्थ यह है कि तुमने अपनी सेवाके बदले जो हुण्डी प्राप्त की है उसके बदले तुम दूसरोंसे ऐसी सेवा जिसकी तुम्हें आवश्यकता है, प्राप्त कर सकते हो। यह हुण्डी, मुद्रा (नोट रुपये आदि) के रूपमें होनेसे वह इस बातके लिये राजाका साक्षी पत्र है कि तुमने अपनी सेवाके बदले इसे प्राप्त किया है। जब तुम बाजारमें जाकर अन्न वस्त्र आदि आवश्यकीय वस्तु उस मुद्रासे खरीदते हो तब मानो तुम उन दूकानदारोंके लिये समाज पर हुण्डी देते हो कि तुमने उनसे सेवा पाई है, अतएव दूसरे भी उनकी आवश्यकतानुसार अपनी सेवा इस हुण्डीके बदले उनको देवें। इस तरह मुद्राकी बिचवाई मानकर प्रत्येक मनुष्यकी सेवाका एक दूसरेके साथ आवश्यकतानुसार विनिमय होता रहता है।

समाजकी आदिम अवस्थामें मुद्राका प्रचलन नहीं था। सभी प्रकारकी सेवाका विनिमय अन्नजात द्रव्योंके द्वारा होता था। इस कामके लिये विशेष कर अन्न ही उपयोगमें लाया जाता था। समाजकी इस अवस्थामें अन्नका विनिमय

कष्ट एवं असुविधा जनक था, औद्योगिक उन्नतिमें बाधा पड़ती थी। इस कारण समाज-शासकोंने मुद्रा (कृत श्रमका निदर्शन वा श्रमकी साक्षी) प्रचलित किया* जिसके विनिमयमें सभी द्रव्य सुख-प्राप्य होगये और औद्योगिक उन्नतिके साथ साथ व्यापार बढ़ गया। मुद्राका प्रचलन समाजकी उन्नत सभ्यताका परिचायक है।

गणेश—आपके कथनसे मैं यह समझ गया कि प्रत्येक गृहस्थ, शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रम रूपी चार श्रेणियोंकी समाज-सेवा रूप कर्मोंमें किसी एक श्रेणीके कर्म द्वारा समाजकी सेवा करता है। इस सेवाके बदले उसको मुद्रा

---

* "मुद्रा" शब्दकी व्युत्पत्ति है मुद्+र जिसका अर्थ होता है "इसके द्वारा हृष्ट (आनन्दित) होना"। मानो, पाने वालेसे मुद्रा कहती है "तुम यह जानकर सन्तुष्ट होकि मेरे बदले तुमको भी अपनी आवश्यकतानुसार दूसरोंसे सेवा निःसन्देह मिलेगी"। अपने श्रमके विनिमयमें जब किसीको मुद्रा मिलती है तब वह प्रसन्न सो होता ही है किन्तु इस प्रसन्नताका मूल वही बात है जो पाने वालेसे मुद्रा कहती है। भारतवर्षमें मुद्राको प्रचलित हुए लाखों वर्ष होगये, क्योंकि इसका उल्लेख मनुस्मृतिमें (जोकि सत्ययुगका स्मृति-शास्त्र है) पाया जाता है। मुद्राके इतने नाम संस्कृत साहित्यमें मिलते हैं, यथा—बराटक (बर+अट=चलना Currency विनिमयमें जो एकके हाथसे दूसरेके हाथमें चलता जाय), कपर्द्दक (कौड़ी), ताम्र खण्ड (पैसे), रजत खण्ड, रौप्य खण्ड, तङ्का (रुपये), टङ्क (मुद्रित धातु खण्ड), टङ्कक, टङ्का (रौप्य वा रजत मुद्रा)। स्वर्ण खण्ड, सुवर्ण, पल, धरण (मुहर) ये प्राचीन कालके सोनेके सिक्कोंके नाम थे। सिक्का शब्दकी भी उत्पत्ति संस्कृत सिक् शब्दसे हुई है जिसका अर्थ "चलाना" है सुतरां "सिक्का" और "बराटक" दोनों समानार्थक हैं।

आदिमें कौड़ीसे लेन देनका काम होता था, इस लिये उसका एक नाम "बराटक" है। कौड़ीके दिनोंमें "पण" शब्दसे उसका परिमाण किया जाता था। किसी वस्तुके मोल भाव करनेमें "१ पण २ पण मूल्य है" ऐसा कहा जाता था। जब केवल कौड़ीसे व्यवहारका काम पूरा न पड़ा तब धातु काममें लाई गई। पहले पहल तांबे चांदी सोनेके टुकड़ोंसे लेन देनका काम होता था। किन्तु ये भी द्रव्यके विनिमयके तुल्य असुविधा जनक थे, क्योंकि बार बार तौल तौल कर उनके टुकड़े बनाने पड़ते थे। सुतरां मुद्राका आविष्कार करना पड़ा और उनके निर्ख यों बांधे गये—

मिलती है। इस मुद्राके विनिमयमें वह पुनः समाजसे अपने जीवन-निर्वाहके लिये जो जो उपकार प्राप्त करता है उन्हींकी गिन्ती शिक्षा, रक्षा पोषण और परिश्रम इन चार श्रेणियोंमें होती है। सुतरां यह मैं समझता हूं कि प्रत्येक मनुष्य-को (सद्योजात शिशुसे वृद्ध तक) चाहे प्रत्यक्ष रूपसे हो, अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे इन चारों श्रेणियोंकी सेवा पहुंचती रहती है। क्योंकि इनके बिना किसीका भी निर्वाह नहीं हो सकता। और आपके कथनसे मैं यह भी समझ गया कि ये चार श्रेणियोंके

कपर्दुक या कौड़ीका मान।

८० कौड़ीका = १ पण।

(२० कौड़ीका $\frac{1}{4}$ पण भी होता था और कदाचित् इससे भी कम परिमाण रहा हो। ४० वर्ष पूर्व काशीमें १ कौड़ी का भी सौदा मिलता था)।

तांबेकी मुद्रा।

२० कौड़ीका = १ कार्षिक
४ कार्षिकका = १ पण
१६ पणका = १ कार्षापण

(कदाचित ८ कार्षिकका $\frac{1}{2}$ कार्षापण भी रहा हो)

चांदीकी मुद्रा।

२ कृष्णल या गुञ्जका = १ माषक
(२ रत्तीका)
४ माषकका = १ टङ्क या टङ्कक या टङ्का।
५ टङ्कका = १ धरण या पुराण
१० धरण या पुराणका = १ शतमान

(शतमान मुद्राका वजन ३$\frac{1}{2}$ तोला होता था। पता नहीं कि १ माषकका कितने कार्षिक आदि मान की ताम्र मुद्राएँ मिलती थीं)।

सुवर्ण मुद्रा।

६ सरसोंका = १ यव
३ यवका = १ कृष्णल, रत्ती
५ कृष्णलवारत्तीका = १ माषक
१६ माषकका = १ सुवर्ण
४ सुवर्णका = १ पल वा निष्क
१० पल वा नि०का = १ धरण।

चांदीके १ शतमानका वजन सोनेके १ पलके बराबर है। सोनेकी मुद्रा १धरण का वजन ३३$\frac{1}{2}$ तोला! इससे मालूम होता है कि सोना बहुत था किन्तु यह मालूम नहीं कि किसी एक स्वर्ण मुद्राके बदले कितनी रौप्य मुद्रा मिलती थीं। (भारतमें तांबे और सोनेकी खदान हैं परन्तु चांदीकी खानिका पता अभी तक नहीं लगा है)।

सेवा कर्म परस्पर ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं कि वे एक दूसरेके आधार-आधेय हैं; अर्थात् शिक्षाका अवलम्बन रक्षा, पोषन और परिश्रम हैं; रक्षाका अवलम्बन शिक्षा, पोषण और परिश्रम हैं; पोषणका अवलम्बन शिक्षा, रक्षा और परिश्रम हैं; और परिश्रमका अवलम्बन शिक्षा, रक्षा और पोषण हैं।

किन्तु आपने "शिक्षा" के साथ ब्राह्मण वर्णके धर्मका, "रक्षा" के साथ क्षत्रिय वर्णके धर्मका, "पोषण" के साथ वैश्य वर्णके धर्मका और "परिश्रम" के साथ शूद्र वर्णके धर्मका जो घनिष्ट सम्बन्ध बतलाया है वह मुझे देखनेको नहीं मिलता। हां, कुछ चिन्ह तो अवश्य, देखनेमें आते हैं, जैसे—ब्राह्मणोंमें जो पुरोहिताई, पण्डिताई और शिक्षक कार्यसे समाजकी सेवा करते हैं; क्षत्रियोंमें जो राज्य प्रबन्धमें नौकरीके द्वारा समाजकी सेवा करते हैं; वैश्योंमें जो कृषि, शिल्प, वाणिज्य और साहूकारी द्वारा समाजकी सेवा करते हैं और शूद्रोंमें जो शारीरिक परिश्रम एवं शिल्प कर्म द्वारा समाजकी सेवा करते हैं; वे अपने अपने वर्णके धर्मके अनुसार चलते हैं ऐसा भले ही कहलें; किन्तु जब ब्राह्मण मात्र "शिक्षा" द्वारा, क्षत्रिय मात्र "रक्षा" द्वारा, वैश्य मात्र "पोषण" द्वारा और शूद्र मात्र "परिश्रम" द्वारा अपनी जीविका वा समाजकी सेवा नहीं करता है; तब "शिक्षा" को ब्राह्मण वर्णका धर्म, "रक्षा" को क्षत्रिय वर्णका धर्म, "पोषण" को वैश्य वर्णका धर्म और "परिश्रम" को शूद्र वर्णका धर्म कैसे कह सकते हैं?

वर्णोंकी अनित्यता और समाज-सेवा कर्मोंकी नित्यता।

मायानन्द—लाखों* वर्ष पूर्व जिस समय भारतमें सामाजिक श्रमके विभागसे समाजका सङ्गठन हुआ था उस समय यावत् श्रमका विभाग चार श्रेणियोंमें हुआ था—यथा, शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रम। और इन श्रेणियोंका नाम करण आर्य ऋषियोंकी भाषामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किया गया था‡ और श्रमकी इन श्रेणियोंको वंशगत बनानेसे समाज-शासकोंका यह उद्देश्य था कि वंश परम्पराके अभ्याससे ज्यों ज्यों लोग तत् तत् कर्मोंमें पटुता प्राप्त

---

* मनुस्मृतिके अ० १ श्लोक ३३ और ५८ से ज्ञात होता है कि स्वयम्भुवमनुके द्वारा प्रचारित स्मृतिका नाम ही "मनुस्मृति" है। स्वयम्भुवमनुको हुए आज १ अर्ब ८५ करोड़ ४२ लाख १३ हजार ९६ वर्ष बीत चुके। अतएव यहां जो "लाखों वर्ष" कहा है उसे कोई अत्युक्ति न समझें। क्योंकि विज्ञानसे सिद्ध हो चुका है कि पृथ्वी पर मनुष्यका आविर्भाव हुए प्रायः २ अर्ब वर्ष हुए हैं।

‡ श्रमका विभाग श्रमके स्वरूप परसे (in theory) न हुआ होगा। पात्रों परसे यामे श्रमके करने वालों परसे (occupation परसे) श्रमका विभाग हुआ होगा और उसी समय श्रमका नामकरण भी किया गया होगा। इसीसे ये नाम भाव वाचक संज्ञा न होकर जाति वाचक संज्ञा होगये हैं।

करेंगे त्यों त्यों उन कर्मों की भी उन्नति होगी। पहिले पहिल लोग अपने अपने वर्णानुसार श्रमके द्वारा ही जीविका करते थे। आपत् कालके सिवा और किसी समय कोई इस परिपाटीका उल्लंघन नहीं कर सकता था। जो कोई आपत् कालके बिना इसका उल्लंघन करता था तो वह राजासे दण्डित होता था।

प्रजा पालन कार्यके अन्तर्गत राजाके लिये यह भी एक काम था कि वह देखे कि कोई प्रजा अपनेसे किसी भिन्न वर्णके कर्मसे तो जीविका नहीं करती है। श्रम याने जीविकार्जनी वृत्तियाँ जब इस प्रकार वर्णके बन्धनमें पड़गईं तब वर्ण भी "जाति" के बन्धनमें पड़गये। और ज्यों ज्यों लोगोंमें समाज-तत्वका ज्ञान लोप होता गया त्यों त्यों जाति बन्धन बढ़ता गया। यहां तक कि पारलौकिक बातोंमें जहां पहले चारों वर्णोंका समान अधिकार था वहां भी वह अधिकार निम्नतम वर्ण (शूद्रों) से छीन लिया गया।

द्वापर युगमें वर्णगत कर्मोंकी परिपाटीमें व्यतिक्रम होना आरम्भ होगया। जिससे द्वापर के अन्तमें चिन्ताशील विद्वानोंको यह सन्देह होने लगगया कि धर्म (समाजका मङ्गल) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके वर्णों पर निर्भर है अथवा जिन कर्मोंके अनुसार उनको तत् तत पदवी मिली है उन कर्मों पर अर्थात् शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रम पर निर्भर है?

आज दिन भारतमें श्रमको बन्धनसे तो छुटकारा मिलगया है, किन्तु वर्ण स्वयम् जातिके बन्धनमें पड़ा हुआ है। अपर देशोंमें तो श्रम सदासे स्वाधीन रहा है अन्ततः बहुत दिनोंसे वह स्वाधीन हो चुका है। श्रमके वर्णगत न होनेसे उन देशोंकी राष्ट्रीय उन्नतिमें कोई बाधा नहीं हुई है। प्रत्युत उन्नति ही हुई है। इस समय पृथ्वीके राष्ट्र-संसारकी परिस्थितिके विचारसे यह कहना पड़ता है कि भारतमें श्रमका पुनः वर्णोंके आधीन होना असम्भव है। सुतरां, वर्णको (श्रमके अपर नामको) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके नामसे अनित्य समझना चाहिये, और उन्ही वर्णोंके प्रकृत रूप जो शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रम हैं उनको नित्य (शाश्वत) समझना चाहिये।

सामाजिक श्रमकी इसी नित्यानित्यताके विचारसे श्री गीताके १८ वें अध्यायके ४५। ४६ वें मंत्रोंमें कहे "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" वचनमें श्री कृष्ण भगवान्‌ने "कर्म" शब्दका उपयोग किया है। और जिसका अर्थ करनेमें मैंने गीतानुशीलनके उपक्रममें ही "समाजके अनुकूल जीविकाके निर्वाह योग्य अपने अपने कर्मोंमें लगे हुए भी मनुष्य मात्र सिद्धिको प्राप्त कर सकते हैं!" ऐसा कहकर

यह सूचना दी है कि इस मंत्र से, ब्राह्मणादिकों के "अपने अपने वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्म" पर, जैसा कि तुमने समझा था (उप० अ० पृ० ४ देखो), ज़ोर देने का अभिप्राय न कभी श्रीकृष्ण भगवान का था और न वैसा अर्थ ही अब भारत के लिये लागू हो सकता है; और अन्य देशवासियों के लिये तो कभी वह लागू था ही नहीं।

इस सिद्धान्त को समाज-तत्व पर विचार करते हुए हमें शास्त्रीय युक्ति से प्रतिपन्न करना है।

४ परिच्छेद।

समाज–नियामिका शक्ति।

मायानन्द—केवल श्रम की दृष्टि से शूद्र वर्ण के समाज-सेवा रूप कर्म का मूल्य सब से अधिक जान पड़ने पर भी हम उसको समाज में उच्च आसन नहीं दे सकते; क्योंकि इस वर्ण में (परिश्रम रूप समाज-सेवा में) समाज का इष्ट और अनिष्ट करने की शक्ति जितनी है, उतनी समाज-नियन्तृ शक्ति इसमें नहीं है।

समाज में कौन वर्ण श्रेष्ठ है?

समाज में उसी वर्ण को (समाज--सेवा को) सब से ऊंचा आसन प्राप्त होता है जिसमें समाज का मंगल और अमंगल करनेकी शक्ति और समाज-नियन्तृ शक्ति तुल्य रूप से हो; अथवा जिसमें इष्ट, अनिष्ट और नियन्तृ इन तीनों शक्तियों में से दो समानधर्मी शक्ति मिल कर अन्य वर्ण की तीसरी, असमान धर्मी अनिष्टकारी शक्ति से अधिकतर बलवती हो। इष्ट और अनिष्टकारी शक्तियों का परिचय विस्तृत रूप से दिया जा चुका है। अब संक्षेप में समाज-नियन्तृ शक्ति का परिचय दिया जाता है।

समाज में नियन्तृ-शक्ति वह है जो समाज के लोगों को, समाज के नियमों में, बाँधे रखती है। अब देखना चाहिये कि जब किसी समाज के लोगों ने आपस में नियम बना कर अपने को उन नियमों में एक बार बाँध लिया, तो फिर वे अपने को उन नियमों के बन्धन से कैसे अलग कर सकते हैं? जिन लोगों ने मिलकर किसी नियम को बनाया, वे ही लोग किसी कारण से पुन: मिल कर उस नियम में हेर फेर कर सकते हैं; परन्तु फिर भी वे किसी दूसरे नियम से अवश्य बंध जायंगे।

इससे स्वरूपतः नियमों के बन्धन से समाज का मुक्त हो सकना सिद्ध नहीं होता; हां, नियम का भंग होना व्यक्ति विशेष वा श्रेणी विशेष के द्वारा सम्भव है।

ब्रह्माण्ड में सतोगुण नियन्ता है।

अब विचारना चाहिये कि नियम का भंग होना सम्भव क्यों है? इस संसार में हम यावत् सृष्ट वस्तु को संहार की ओर जाते हुए देखते हैं। सृष्टिकाल और संहारकाल के मध्य में जो काल होता है उसमें, उत्पन्न वस्तु उन्नति और अवनति रूपी दो अवस्थाओं को क्रमसे प्रकाश करती हुई, विद्यमान रहती है। वस्तु की उत्पत्ति में जो शक्ति कारण रूप है वह जब व्यय हो जाती है अथवा शिथिल पड़ जाती है तब वस्तु के संहार के लिये जो शक्ति कारण रूप है वह प्रकाशित होने लगती है। फिर संहारकारिणी शक्ति भी अपनी शक्ति का व्यय करती हुई उत्पन्न वस्तु को संहार की दशा में पहुंचा कर जब स्वयम् थक जाती है, तब सृष्टिकारिणी शक्ति उस वस्तु को संहारकारिणी शक्ति के अधिकार से छीन कर पुनः उसकी सृष्टि करने लगती है ॐ।

यदि संहार-अवस्था में वस्तु का नाश हो जाता हो तो सृष्टिकारिणी शक्ति उस वस्तु की सत्ता के अभाव में अपनी शक्ति को फिर प्रकाशित नहीं कर सकती एवं सृष्टि और संहारकारिणी शक्तियों की लीला का अवसान (अन्त) हो गया होता। अतएव, वस्तुओं में, उनके आकार और गुण को छोड़कर, जो सत्त्व मात्र है, जिसका स्वरूप समझने के लिये केवल "सत्" शब्द का उपयोग होता है, वह सृष्टि के पूर्व में और संहार के पश्चात् एकसा बना रहता है। यही सत्त्व सृष्टि-काल से संहार-काल तक आकार के आश्रय में प्रकाशित होता रहता है, और आकार के संहार के उपरान्त अप्रकाश्य अवस्था में स्थित रहता है। सृष्टि और संहार केवल आकार का होता रहता है।

ॐ प्रकृति की इन सृष्टि और संहारकारिणी शक्तियों को प्रत्यक्ष करने के लिये किसी भी सृष्ट पदार्थ को, फिर चाहे वह सजीव कोटि का हो वा निर्जीव कोटि का, दृष्टान्त स्वरूप ले लो और विचार करो। आज जिस जीव ने शिशु रूप से जन्म लिया है, दिनों दिन उसके उस रूप का नाश होता जाता है और बालक, युवा एवं वृद्धावस्था का रूप उस पर क्रमशः चढ़ता जाता है। नया रूप देने के लिये सृष्टिकारिणी शक्ति कारण है और पूर्व रूप का नाश करने में संहारकारिणी शक्ति कारण है। अन्त में जब वह शिशु बुड्ढा होकर मर जाता है तब उस जीव-शरीर का पूर्ण संहार हो जाता है। जन्म से मरण तक का जो समय है उसमें जो रूप प्रकट होते हैं वे लौकिक दृष्टि में कुछ उन्नति और कुछ अवनति के लक्षण से युक्त रहते हैं, किन्तु दार्शनिक दृष्टि में तो वह सब संहार की ही दशा है।

सृष्टिकारिणी शक्ति को दर्शनकार "रजोगुण" कहते हैं, और संहारकारिणी शक्ति को "तमोगुण" कहते हैं; और जिस स्थितिकारिणी शक्ति से वस्तु का भाव एकसा बना रहता है उसको "सत्त्व" गुण कहते हैं। इसी "सत्त्व" पर रजोगुण आकार डालता है और तमोगुण उस आकार का नाश करता है—अर्थात् वस्तु की सत्ता पर रज और तम आकार को लेकर परस्पर स्पर्द्धा करते हैं। आकार यदि नाशधर्मी न होता तो तम उसको नाश न कर सकता, एवं सत्त्व में यदि आकार ग्रहण धर्म न होता (सत् का यह धर्म सत्त्व कहाता है) तो रज उस पर आकार न डाल सकता। जैसे, मृत्तिका में आकार ग्रहण करने का गुण रहने के कारण ही हम उसमें आकार डाल सकते हैं, परन्तु वायु में प्रत्यक्ष आकार नहीं डाल सकते। और जब मृत्तिका में आकार-ग्रहण-धर्म है तो आकार धारण करने के उद्देश्य से वह बनी भी है। हम जो उसको आकार देते हैं, आकार देने में निमित्त कारण मात्र हैं। इसी तरह उस अव्यय और अव्यक्त सत् का जो भाव आकार ग्रहण करता है वह आकार ग्रहण करने के उद्देश्य से ही बना है। अतएव जब सतोगुण में आकार-ग्रहण धर्म है तो आकार का ग्रहण करना उसका उद्देश्य ही हुआ। रजोगुण, जो उसमें आकार डालता है, आकार डालने में निमित्त कारण मात्र है।

सतोगुणाश्रित आकार का संहार करके जब तमोगुण, सतोगुण का कुछ भी न कर सका, और सतोगुण ने रजोगुण को निमित्त मात्र करके पुनः आकार को ग्रहण किया, तो आकार की सृष्टि में सतोगुण ही नियन्ता हुआ। यदि रजोगुण आकार की सृष्टि में नियन्ता होता तो आकार का नाश तमोगुण न कर सकता, और यदि आकार के नाश-कार्य्य में तमोगुण नियन्ता होता तो रजोगुण पुनः आकार को उत्पन्न न कर सकता। इससे यह विदित होता है कि परस्पर पराभव प्राप्त होने वाली दो शक्तियां एक दूसरे की नियामिका [नियन्तृ] नहीं हो सकतीं।

अतएव, जैसे इस विराट् ब्रह्माण्ड में सतोगुण, रज और तमोगुण का नियामक है [क्योंकि इसी के आधार पर इन दोनों के कार्य प्रकट होते रहते हैं] वैसे ही समाज में मनुष्यों की सात्त्विक बुद्धि समाज की नियामिका है।

मनुष्य में सतोगुण नियन्ता है।

मनुष्य के चित्त में सतोगुण ज्ञान का स्वरूप है जिसका उद्देश्य सुख है। ज्ञान की भूमिका पर रजोगुण, जो मनुष्य के मन का ही एक गुण है, नियम रूप सुख को खड़ा करता है। और तमोगुण, जो मनुष्य के मन का ही दूसरा गुण है, उस नियम को तोड़ता है। विराट् ब्रह्माण्ड में जैसा संहार शक्ति [तमोगुण] का कार्य पुनः सृष्टि के ही अर्थ

होता है, वैसाही मनुष्यों में तमोगुण का कार्य भी सुख के लिये ही होता है। भेद केवल उस सुख के रूप में [भावना में] है।

रजोगुण सुख का जो नियम खड़ा करता है वह क्रियात्मक है क्योंकि वह स्वयं क्रियाशील है; और तमोगुण, रजोगुण से विपरीत धर्मी होने से क्रिया रहित अवस्था को सुख मानकर क्रियात्मक नियमों को तोड़ता है। सुख के स्वरूप पर लड़ते हुए ये दोनों एक दूसरे के नियमों को तोड़ते हैं—कार्य का संहार करते हैं, और परस्पर को पराजित करते रहते हैं; परन्तु ज्ञान जिसका उद्देश्य यथार्थ में सुख है, अपने उद्देश्य के साधन में तत्पर रहकर दोनों ही अवस्थाओं में जब एकसा स्थिर रहता है, तो सुख के साधन में ज्ञान को ही नियन्ता समझना चाहिये अतएव, मनुष्यों में भी सतोगुण ही, रज और तम गुण का नियन्ता है।

नियम भंग होने के, और पुनः स्थापित होने के कारणों पर जो विचार किय गया उससे यही पाया जाता है कि तमोगुण से नियम भंग होते हैं और रजोगुण को निमित्त करके सतोगुण से पुनः नियमों की स्थापना होती है।

शूद्रवर्ण या परिश्रम रूप समाज-सेवा में नियन्तृ शक्ति।

यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों अथवा इनमें से कोई भी अपने कर्मों की अवहेलना करे या उनका सम्पादन अयथा रूप से करे अथवा उनका करना ही बन्द कर देवे, तो शूद्र*वर्ण की समाज-सेवा में ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके द्वारा वह उनको पुनः अपने अपने कर्मों में नियत कर सके। जो कोई अपना कर्त्तव्यकर्म स्वयम् अपनी इच्छा से नहीं करता उसको उस कर्म में पुनः लगा देने के लिये बल का प्रयोजन होता है। इस बल का प्रयोजन मौखिक शिक्षा द्वारा अथवा ताड़ना किंवा दण्ड द्वारा किया जाता है। शिक्षा देना ज्ञानसापेक्ष है, ताड़ना और दण्ड देना शूरता और दैहिक बल साक्षेप है। शूद्र में जो दैहिक बल है वह शारीरिक परिश्रमोपयोगी हैं; वह शौर्य-कार्य साधनोपयोगी नहीं है। साथ ही उसमें स्वरूपतः दूसरों को शिक्षा देने योग्य ज्ञान नहीं है। इन कारणों से इस श्रेणी की समाज-सेवा नियन्तृ-शक्ति रहित है।

---

* यहां 'शूद्रवर्ण' का अर्थ "शारीरिक परिश्रम" मात्र से है, शूद्रवर्ण के मनुष्यों से नहीं। यही लक्षण दूसरे वर्णों के लिये भी समझो।

वैश्य वर्ण की समाज-सेवा में, जो केवल पोषण रूप कर्म से सम्बन्ध रखती है, शूरता और दैहिक बल का अभाव होने से, तथा दूसरों को शिक्षा देने योग्य ज्ञान के न रहने से, इस श्रेणी की समाज-सेवा भी नियन्तृ शक्ति रहित है।

वैश्य वर्ण या पोषण रूप समाज-सेवा में नियन्तृ शक्ति।

क्षत्रिय वर्ण में शूरता और दैहिक बल का एकत्र समावेश होने से, नियन्तृ शक्ति जिसका अन्तिम कार्य्य दण्ड द्वारा नियत करना है, समाज-सेवकों की श्रेणियों में क्षत्रिय श्रेणी में ही पूर्ण रूप से है (क्योंकि ब्राह्मण वर्ण की समाज-सेवा केवल शिक्षा सापेक्ष होने से उसमें भी दैहिक बल का, जिसका कार्य्य उत्पथगामी को दण्ड द्वारा नियमित करना है, अभाव मानना पड़ता है)। आर्य ऋषियों ने दण्ड को ही नियन्तृ-शक्ति माना है॥। ब्रह्म में नियन्तृ शक्ति का नाम यम है, और समाज में नियन्तृ शक्ति का नाम राजा है। क्षत्रिय वर्ण में जो नियन्तृशक्ति है वह इस राजा के द्वारा ही प्रयुक्त होती है।

क्षत्रिय वर्ण या रक्षा रूप समाज-सेवा में नियन्तृ शक्ति।

समाज-रक्षक श्रेणी (क्षत्रियवर्ण) को छोड़कर और शेष श्रेणियों में "अपना आप बड़ा" ऐसे कई एक मुखिया हो सकते हैं, परन्तु क्षात्र श्रेणी में राजा नाम का एक ही मुखिया होता है जो अपनी श्रेणी और दूसरे श्रेणियों का शासन और पालन करता है। इस शासन और पालन कार्य्य के लिये राजा को अपनी श्रेणी तथा और और श्रेणियों के कर्त्तव्यों से अभिज्ञता रहनी चाहिये।

यदि समाज-शिक्षक श्रेणी (ब्राह्मण वर्ण) समाज को व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान की शिक्षा देने में अवहेलना करें अथवा अनुचित शिक्षा देवे तो राजा ताड़ना वा दण्ड द्वारा इस श्रेणी का शासन कर सकता है; परन्तु शिक्षा के औचित्य एवं अनौचित्य के बारे में राजा को स्वयम् पहिले जान लेना चाहिये कि उचित शिक्षा क्या है।

यदि समाज-पोषक श्रेणी (वैश्यवर्ण) समाज-पोषण कर्मों के करने में अवहेलना करे अथवा उन कर्मों को अयथा रूप से करे तो राजा शिक्षा, ताड़ना वा दण्ड द्वारा इस श्रेणी का शासन कर सकता है; परंतु कृषि, शिल्प और वाणिज्यादि विषयों में शिक्षा देने के लिये राजा को स्वयं इन विद्याओं का ज्ञान होना चाहिये।

॥ "दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते", अर्थ—दण्ड ही के प्रताप से सब लोग अपने अपने धन को भोगते हैं।

यदि श्रमजीवी श्रेणी के लोग (शूद्र वर्ण) अपने कर्त्तव्य कर्म अर्थात् श्रम के करने में अवहेलना करें तो राजा ताड़ना या दण्ड द्वारा इस श्रेणी का शासन कर सकता है। परन्तु राजा को व्यक्तिगत स्वाधीनता‡ और न्याय का ज्ञान होना चाहिये।

अतएव, जब क्षात्र शक्ति रूप राजा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों पर शासन करने की सामर्थ्य है तो समाज में क्षात्र शक्ति ही नियन्तृ शक्ति है और इसी का आसन समाज में सब से ऊंचा जान पड़ता है। इसी विचार से श्रीगीता में क्षत्रिय वीर अर्जुन को निमित्त मान कर निष्काम वर्णधर्म का आचरण करने का उपदेश किया गया है। महाभारत का भीष्म-युधिष्ठिर संवाद भी इसी प्रकार का उदाहरण है, जिसमें विशेष कर राजधर्म का ही विवेचन किया गया है क्योंकि अकेले राजधर्म में और और वर्णों के धर्मों का अन्तर्भाव है।

"स राजा पुरुषो दण्डः सनेता शासिता च सः। चतुर्णामाश्रमाणांच धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥" (मनु अ० ७।१७) अर्थ—वह दण्ड ही राजा है, पुरुष है, वही राज्य का नियामक है और वही शासक है और उसी को चारों आश्रमों के (ग्यवर्ण के) धर्म का प्रतिनिधि कहा है। मनु के इस वचन में प्रजातंत्र शासन पद्धति का सिद्धान्त प्रकट हो रहा है। प्रजा की सम्मति से जिस प्रकार के शासन की व्यवस्था होती है वे ही शासन मानो समाज की आत्मा है। इस आत्मा पुरुष का, समाज के चारों श्रेणियों पर जो अधिकार है उसी का दिग्दर्शन कराने के लिये मैंने 'क्षात्र-शक्ति ही नियन्तृ शक्ति है' ऐसा कहा। शास्त्रकारों ने उसी आत्मा पुरुष को 'राजा' शब्द से निर्देश किया है। जिस व्यक्ति में प्रजा इस आत्मा पुरुष का आरोप करके उसपर शासन कार्य के परिचालन का भार सौंपती है वह भी लौकिक भाषा में राजा कहलाता है।

ब्राह्मण वर्ण या शिक्षा रूप समाज सेवा में नियन्तृ शक्ति

अब यहां यह प्रश्न हो सकता है यदि राजा स्वयम् उत्पथ गामी हो, यदि वह अपने कर्त्तव्य के पालन में अवहेलना करे अथवा अयथार्थ रूप से प्रजा याने समाज का शासन करे, तो किस शक्ति से वह अपने कर्म में नियत किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर केवल "ब्राह्मण" (ज्ञान) इस शब्द के अन्तर्गत है। ब्राह्मण वर्ण नामक समाज सेवक की समाज सेवा स्वयम् शिक्षा रूप होने से वह तो ज्ञान

‡ समाज में रहने वाला कोई भी मनुष्य पूर्ण स्वाधीन नहीं है। उस की स्वाधीनता समाज की भलाई बुराई की अपेक्षा से नियमित होती है। समाज की इस अपेक्षा रहित स्वाधीनता में स्वेच्छाचार है जो कि निन्दनीय है।

का ही रूप है। अतएव शिक्षा सापेक्ष नियन्तृ शक्ति इस वर्ण में यथेष्ट है। किन्तु स्वरूपत: इस श्रेणी की सेवा में शूरता और दैहिक बल न होने से, उत्पथ गामी को जो कि शिक्षा अथवा ताड़ना से भी उचित मार्ग पर नहीं चलता है, दण्ड द्वारा नियमन करने की शक्ति उस में नहीं के समान है। इस कारण, आपातत: ब्राह्मण वर्ण की समाज सेवा में भी पूर्ण नियन्तृ शक्ति का अभाव जान पड़ता है; परन्तु जब ज्ञान किसी कार्य्य साधन के लिये क्रियोन्मुख होता है* तब वह मानस बल को उत्पन्न कर देता है। मानस बल और शूरता में विशेष कोई भेद नहीं है। इसी से पुराणों में जहां उत्पथ गामी राजा वा क्षत्रिय वर्ण के शासन का इतिहास हमें देखने को मिलता है, वहां हम यही देखते हैं कि ब्राह्मण वर्ण ने अपने ज्ञान के साथ बल रूप दण्ड का योग करके ऐसे राजाओं का वा क्षात्र-शक्ति का शासन किया है। राजा वेण जब उत्पथ गामी हुआ था तब ब्राह्मणों ने समाज से बल का संग्रह कर के उस के बाहु रूप बल को मथित किया था। वशिष्ट ऋषि ने गाधिनन्दन प्रमुख क्षत्रियों के बल को परास्त किया था। परशुरामजी ने इक्कीस बार पृथ्वी को नि:क्षत्रिय कर डाला था।†

इन इतिहासों से यही जाना जाता है कि पुराकाल में ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दो वर्ण (जाति रूप से) समाज में सर्वोच्च आसन के लिये याने सामाजिक (लौकिक) श्रेष्ठता के लिये लड़ाई कर चुके हैं;§ परन्तु शिक्षारूप समाज सेवा ही, समाज पालन का मूल होने से सदा समाज में नियन्तृ शक्ति बनी रही है।

स्मरण रहे कि समाज-सेवा रूप कर्मों के करने में जिन भिन्न शक्ति वा गुणों की आवश्यकता होती है केवल उन के स्वरूप पर ही हम अबतक विचार करते आये हैं न कि इन भिन्न भिन्न समाज-सेवकों पर अथवा उन की जाति अथवा

---

* बुद्धि जब कार्य करने के लिये निश्चय कर लेती है।

† "बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः॥" मनु अ० ७।४० अर्थ—बहुतेरे राजे अविनयी होने के कारण वैभव और परिवार सहित नष्ट हो गये।

§ महाभारत शान्ति पर्व के अ० ७२ में इस पर एक प्रश्न आया है—राजा पुरुरवा वायु देवता से प्रश्न करते हैं—"ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दो वर्णों में धर्मानुसार कौन पृथ्वी का अधिकारी है"। वायु उत्तर देता है—"ब्राह्मण अग्रजन्मा है इस लिये जगत् के समुदाय पदार्थ पर उस का अधिकार है। विद्वान धीमतिमान ब्राह्मण अपने उपदेशों से राजा का मंगल करता है।" इसका भावार्थ यह है कि समाज और राष्ट्र के संगठन में ज्ञान आदि कारण है। दैहिक बल और शूरता से विद्या बड़ी है। मनुष्य निर्बल होकर भी बलवान हाथी पर सवार होता है।

वर्ण पर‡। इसी स्वरूप पर विचार करते हुये अब हम देखेंगे कि शिक्षा (ब्राह्मण) और रक्षा (क्षत्रिय) इन दोनों में सचमुच कौन नियन्तृ शक्ति का आधार है।

ऐतिहासिक दृष्टान्तों से हमने देखा कि ब्राह्मण वर्ण ने बलका संग्रह कर के क्षत्रियों पर शासन किया। इस से समाज-तत्व के विचारानुसार यही प्रतिपन्न होता है कि शिक्षा--शक्ति, रक्षा-शक्ति दोनों ने मिलकर एक दूसरी "शिक्षा रक्षा" शक्ति का पराभव किया। जैसे एक राजा वा जाति दूसरे राजा वा जातिका पराभव करती है।

पहले कह आये हैं कि ब्राह्मणों से समाज रक्षण और शासन विद्या एवं समाज पालन विद्या को प्राप्त कर क्षत्रिय, समाज का शासन पालन और रक्षा करता है। अर्थात् ज्ञान भूमिका पर खड़ी होकर शूरतां इन तीनों कर्मों को करती है। यदि उसे ज्ञान की सहायता न मिले तो इन कर्मों का सम्पादन वह कदापि नहीं कर सकती।

यदि आज मनुष्य-समाज से उन कारणों का, जिन के पीछे एक देशवासी अन्य देशवासियों से लड़ते चले आये हैं, लोप हो जाय तो समाज की रक्षक श्रेणी की आवश्यकता न रहे। कदाचित् शिक्षा के द्वारा संसार से जातीय स्वार्थ परता का लोप होना संभव हो, किन्तु जब तक मनुष्य नामक जीव इस संसार में बना रहेगा तब तक उसमें प्रकृतिजन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भौतिक और आध्मात्मिक विषयों के ज्ञान के अर्जन करने की वृत्ति बनी रहेगी। इसका लोप होना सर्वथा असम्भव है।

यदि आज मनुष्य का स्वभाव ऐसा हो जाय कि उपदेश मात्र से ही वह अपना भला बुरा समझ कर उचित कार्य्य अनायास कर सके तो समाज में शिक्षा रूपी सेवा पर्य्याप्त हो जाय, ताड़ना वा दण्ड (रक्षा रूपी सेवा) की कोई आवश्यकता न रहे।

---

‡ एक ही मनुष्य जब शिक्षा की चर्चा कर रहा है तब वह ब्राह्मण वर्ण है, जब किसी को दूसरे के अन्याय व्यवहार से बचा रहा है अथवा किसी को अन्याय व्यवहार के लिये ताड़ना कर रहा है तब वह क्षत्रिय है, जब किसी के लिये कोई वस्तु संग्रह वा उत्पन्न कर रहा है तब वह वैश्य है, और जब शारीरिक परिश्रम साध्य कोई कर्म कर रहा है तब शूद्र है-गुण कर्मानुसार वर्ण की उत्पत्तिवाद से ऐसा मानना पड़ता है। अतएव शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रमरूप कर्मों की जो शक्तियां हैं वे मानो रंग हैं जो कार्य्य क्षेत्र में मनुष्यों पर चढ़ते उतरते रहते हैं।

बिना दण्ड के केवल शिक्षा द्वारा ही समाज शासन करना कदाचित् सम्भव हो, परन्तु बिना ज्ञान के केवल दण्ड द्वारा ही समाज का शासन करना तो बिलकुल असम्भव है।*

सभ्यताभिमानी पाश्चात्य देशों में तथा भारतवर्ष में भी, अभी कोई १०० वर्ष पूर्व केवल राज दण्ड ही पर्य्याप्त नहीं था। उसके साथ साथ शिक्षा की भी आवश्यकता थी; क्योंकि इन देशों की जनता भी उस समय हथियार बांधे रहती थी और काम पड़ने पर अपना न्याय आप कर लेती थी। परन्तु वही जनता अब छड़ी तक का रखना अनावश्यक समझती है। यह दण्ड का प्रताप नहीं, किन्तु शिक्षा का फल है।

जो व्यक्तिगत बल से व्यक्तिगत बल का दमन होना देखने में आता है उस से बल के स्वरूप का दमन सिद्ध नहीं होता। जो बलवान अन्यायाचरण करने से बचा रहता है वह अपने अन्तर्निहित न्याय के ज्ञान से बचा रहता है। ज्ञान शून्य शूरता तो हिंसक जीव की शूरता के समान है, समाज की शासन रूपी सेवा में इसकी उपयोगिता कुछ भी नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से, शिक्षा रूपी समाज सेवा के सामने रक्षा रूपी समाज सेवा की अनित्यता† सिद्ध होती है; क्योंकि राजा अज्ञानवश उत्पथगामी अथवा अपने

---

* क्योंकि ऐसे दण्ड का प्रयोग प्रजा के स्वार्थ के लिये न होकर राजा की स्वार्थ-सिद्धि के लिये होता है, और जिसे अन्याय समझ कर प्रजा के मन में राजा की ओर विरोध भाव उत्पन्न होता है। राजा ज्यों ज्यों प्रजा के इस विरोध भाव को दमन करता जाता है त्यों त्यों वह भावना, बँधे हुये स्रोत के जल जैसा बल पकड़ती जाती है और अन्त को, बांध तोड़ कर जैसे नदी बह निकलती है वैसे ही वह राजा को नष्ट कर देती है। इसका प्रत्यक्ष अर्वाचीन दृष्टान्त १६१७ ई० में होने वाली रूसी राज्य विप्लव की घटना है। (विप्लव=वि+प्ल+अल—प्ल=जल से बह जाना)। और वर्तमान में १६२० ई० में पंजाब के जालियानवाला बाग में अंगरेज़ शासन कर्त्ता के द्वारा निरपराधी जनता की हत्या के कारण भारतवर्ष में शासकों के साथ जो असहकारिता का आन्दोलन और उद्योग हो रहा है वह भी 'ज्ञान रहित दण्ड प्रयोग द्वारा शासन' फल का एक दृष्टांत है।

† महाभारत अ० ६४ में जो कहा है—'क्षत्रिय धर्म सब धर्मों में उत्कृष्ट और अविनाशी है' उसका अर्थ यह है कि क्षात्र शक्ति जबतक ज्ञान से नियंत्रित होती है तभी तक वह उत्कृष्ट और अविनश्वर है।

कर्मों में अवहेलना करनेवाला होने से शिक्षा ही उसको अपने कर्मों में पुनः नियत कर सकती है‡। सुतरां समाज में नियन्तृशक्ति ज्ञान है जिसका आधार रूपक शब्द में ब्राह्मण है। अतएव समाज में ज्ञान वितरण रूपी सेवा सबसे मुख्य है। और उस सेवा रूप कर्म को जो अपना धर्म याने कर्तव्य समझता है और उसका पालन करता है; अथवा किसी के स्वाभाविक शक्ति के अनुसार जिस पर समाज ने इस सेवा का भार दिया है यदि वह उसको निष्कपट भाव से वहन करता है, तो समाज सेवकों की श्रेणियों में उसका आसन सबसे ऊँचा है। इसी विचार से भारतीय आर्य्य पुरुषों के समाज में ब्राह्मण वर्ण सबसे श्रेष्ठ माना जाता है।/

गणेश—आपने अभी मनुस्मृति के एक वचन का उल्लेख करके कहा था कि इस वचन से प्रजा-तन्त्र शासन पद्धति के सिद्धान्त का बोध होता है, और पहले भी आपने कहा था प्राचीन काल में राजा, प्रजा द्वारा चुना जाता था। इस पर मुझे कुछ पूछना है; क्योंकि स्मृतियों से इस बातका कुछ पता नहीं चलता। वर्त्तमान में भी यह बात देखने में नहीं आती।

मायानन्द—पहिले हमें उस 'सामाजिक अधर्म' की उत्पत्ति पर विचार कर लेने दो जिस अधर्म के कारण देश, जाति वा समाज दुर्दशाग्रस्त होजाता है और अन्त में उसके नाम और चिन्ह तक मिट जाते हैं। तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में फिर जातीय उत्थान और पतन के आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर विचार करने की आवश्यकता न रह जायगी, केवल ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय आर्य्य राष्ट्र के उत्थान और पतन का वर्णन करना शेष रह जायगा। इसका वर्णन करने में वेद, पुराण, स्मृति आदि ग्रंथों का मथन करना पड़ेगा और उनमें इस विषय पर जो जो रूपक वर्णित हैं उनका अर्थ खोलना पड़ेगा। रूपकों के युक्तिसिद्ध अर्थ की सत्यता पर वाद विवाद उपस्थित होगा (क्योंकि पौराणिक रूपकों के अर्थ लगाने की शैली अभी तक निश्चित और सर्वमान्य नहीं हो पाई है), इस कारण विषय इतना बढ़ जायगा कि तुम्हारे हमारे बीच का यह संवाद गीता का अनुशीलन न होकर वह भारतीय आर्य्य राष्ट्र के उत्थान और पतन के इतिहास का अनुशीलन हो जायगा! अतः तुम्हारे इस प्रश्न के उत्तर में मुझे यही कहना है कि इस विषय को सम्प्रति के लिये स्थगित रखो फिर कभी इसकी चर्चा करेंगे।

---

‡ इसके दृष्टान्त गीतामें वीर अर्जुन और महाभारत में राजा युधिष्ठिर हैं।

/ इस काल में यह सम्मान शिक्षकों को प्राप्तव्य है।

गणेश—बहुत अच्छा।

मायानन्द—'समाजसेवा की विस्मृति से अधर्म की उत्पत्ति और उस से बचने का उपाय' विषयक गहन विचारों में प्रवेश करने के पहले हम यह जताना चाहते हैं कि जब शिक्षा रूपी समाजसेवा अन्य श्रेणियों की समाजसेवा में तथा समाज के पालन में नियामिका है; तब शिक्षा रूपी समाजसेवा का अभाव वा दुरुपयोग ही किसी देश, जाति वा समाजके दुर्दशाग्रस्त होने में मूल कारण होगा। क्योंकि यह बात स्वतः सिद्ध है कि मार्ग प्रदर्शक की अज्ञानता वा असाव-धानी से साथ के यात्रियों को भी भटकना पड़ता है।

---

५ परिच्छेद।

समाजसेवा की विस्मृति से अधर्म की उत्पत्ति और उससे बचने के उपायों पर विचार।

मायानन्द—लोक समाज की स्थिति और उन्नति के लिये उस समाज के मनुष्यों को परस्पर मिलकर एक दूसरे की सहायता से जो नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक परिश्रम करने पड़ते हैं, उन परिश्रमसाध्य कर्मों के करने वालों को चार श्रेणियों में विभक्त करके, एक एक श्रेणी के कर्त्तव्य कर्म पर जो विचार पहले प्रगट कर आये हैं, उससे तुम यह अच्छी तरह समझ गये होगे कि यदि वे अपने अपने कर्मों को कर्त्तव्य-ज्ञान से और निःस्वार्थ भाव से करें तो समाज की स्थिति और उन्नति में किसी तरह का विघ्न न हो।

जब कोई विघ्न नहीं होगा तो समाज के सभी मनुष्यों को सुख होगा, सुतरां सुख देने वालों को धर्म होगा। अतएव सामाजिक मनुष्यों के जो ऐसे 'स्व स्व कर्म' हैं वे ही उनके लिये धर्म उपार्जन के हेतु हैं।

धर्म और अधर्म।

धर्म और अधर्म का प्रश्न उसी स्थान में उठता है जहां दो अथवा उससे अधिक संख्यक प्राणी हों। कल्पना करो कि इस ब्रह्माण्ड में केवल तुमही अकेले हो, अन्य कोई दूसरा जीव नहीं है। ऐसी अवस्था में तुम अपने लिये धर्म और अधर्म की कल्पना क्या करोगे?

गणेश—इस अवस्था में वही कर्म मेरा धर्म होगा जिससे मेरा अस्तित्व बना रहे।

मायानन्द—अब यदि कोई दूसरा प्राणी उत्पन्न होके तुम्हारे पास पहुँच जाय, और तुम अपने लिये जो कर्म करना चाहो उसके करने से यदि उस प्राणी की स्थिति में बाधा पहुँचे या पहुँचने की सम्भावना हो तो ?

गणेश—तो वह कर्म जो मेरे अकेले के लिये धर्म था अब इस दुकेले में अधर्म हो सकता है और जिस कर्म से दोनों की स्थिति में विघ्न न हो वही कर्म दोनों के लिये धर्म होगा।

मायानंद—अर्थात् तुम्हारे जिस कर्म से उसकी स्थिति में सहायता पहुँचती है, और उसके जिस कर्म से तुम्हारी स्थिति में सहायता होती है, ये कर्म धर्म होंगे और इनके विपरीत कर्म अधर्म। अतएव धर्माधर्म का विचार दो वा उससे अधिक प्राणियों के परस्पर अनुकूल वा प्रतिकूल व्यवहार से उत्पन्न होता है। नीति और अनीति का तत्व भी यही है।

गणेश—सत्य है।

मायानंद—अब हमको यह देखना है कि किसी श्रेणी के समाज सेवक अपने कर्त्तव्य कर्म के करने में अवहेलना क्यों करते हैं अथवा जब उस काम को करते हैं तो उसे अनुचित रीति से क्यों करते हैं एवं अधर्म की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

सुख और आनंद।

स्वभावत: जीव मात्र सुख के अभिलाषी और दु:ख के द्वेषी होते हैं। पहिले संक्षेप में सुख का अर्थ 'मन और इंद्रियों की प्रसन्नता' कह आये हैं*। इस शरीर में सुख का ज्ञान बुद्धि के द्वारा होता है और इस सुख के उत्पत्ति स्थान तीन हैं। (१) बाह्य विषयों के संबंध से इन्द्रियों की जिस प्रसन्नता को बुद्धि अनुभव करती है उसको ऐंद्रिक वा इंद्रियजन्य सुख कहते हैं। जैसे सुगन्ध के संबंध से घ्राणेन्द्रिय को जो प्रसन्नता होती है उसका जो अनुभव बुद्धि को होता है वह इन्द्रियजन्य सुख है। (२) बाह्य भावात्मक विषयों के संबंध से अहंकार

---

* २ रा परिच्छेद पृष्ट २७ देखिये।

(मन) की जिस प्रसन्नता को बुद्धि अनुभव करती है उसको आभिमानिक‡ वा आहंकारिक सुख कहते हैं। जैसे, किसी के सन्मान सूचक अथवा आदर सूचक अभ्यर्थना से, अथवा किसी प्रिय चिन्ता से अहंकार वृत्तिको जो प्रसन्नता होती है उसका जो अनुभव बुद्धि को होता है वह अहंकारजन्य है। (२) बाह्य सम्बंध शून्य अवस्था में मनकी जिस प्रसन्नता का अनुभव बुद्धि करती है उसको आत्मिक वा आत्मजन्य सुख कहते हैं। बाह्य सम्बंध-सहित सुख और इस बाह्य सम्बंध-रहित सुख का भेद जनाने के लिये दर्शनकारों ने इस आत्मिक सुख का नाम "आनन्द" रखा है।

सुख और आनन्द में यह भेद है कि सुख का जो अनुभव है वह आरम्भ में प्रिय हो करके भी पीछे अप्रिय हो जाता है। जैसे मिठाई, खाते समय पहिले पहल तो वह बहुत प्रिय लगती है पर खाते खाते अप्रिय लगने लगती है, परन्तु आनन्द का जो अनुभव है उसका रूप आदि से अन्त तक एकसा रहता है। किसी बाह्य वस्तु में इसका दृष्टान्त नहीं है। भगवत् प्रेमी वा आत्मयोगी (आत्माराम) इस आनंद को जानते हैं। सुख के अनुभव के समय अन्तःकरण में कुछ चंचलता रहती है, किन्तु आनंद के अनुभव के समय अन्तःकरण† शांत रहता है। अन्तःकरण की इन दोनों विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान जिसको एकबार हो गया है उसके लिये सुख भी दुःख का ही रूप है। इस कारण दर्शनकारोंने आनंद को ही पुरुषार्थ माना है।

श्रम और क्रान्ति।

किन्तु जिसे अभी तक अन्तःकरण की शांतता का अनुभव नहीं हो पाया है याने जिसने आनन्द का अनुभव नहीं किया है, वह बाह्य विषय सम्बन्धी सुख की प्राप्ति में यत्न करता रहता है। यत्न मात्र क्रिया सापेक्ष है, चाहे वह क्रिया मन-साध्य हो वा शरीर-साध्य हो। किसी उद्देश्य साधन के लिये यत्न सहित क्रिया को श्रम कहते हैं।

प्रकृति में जो श्रम देखा जाता है उसको दर्शनकार रजोगुण कहते हैं। यही रजोगुण जीवों में श्रमका जनक है। पहले कह आये हैं कि विराट्ब्रह्माण्ड में रजोगुण रूपी सृष्टिकारिणी शक्ति को तमोगुण रूपी संहारकारिणी शक्ति जिस प्रकार पराभव करने को सदा उद्यत रहती है * वैसे ही इस शरीर रूप क्षुद्र ब्रह्माण्ड में तमोगुण, आलस्य रूप से रजोगुण जन्य श्रम का पराभव करने में सदा तत्पर रहता है। इसी कारण जीव मात्र को श्रम से थकावट प्राप्त होती है।

---

‡ अंतःकरण = चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार वृत्तियों का समन्वय है। किसी कारण से "मैं सुखी" "मैं दुःखी" हूँ ऐसा जो भान अपने को होता है उसको 'अभिमान' कहते हैं। ऐसा अभिमान मुख्यतः अहंकार वृत्ति के कारण अंतःकरण में हुआ करता है।

† निष्काम कर्म इस अवस्था का बाधक नहीं है।

* ४ था परिच्छेद देखिये।

श्रम का कार्य हो सुखी होता है। प्रयुक्त स्थान में वह उद्देश्य का साधन करता है और अपने उत्पत्ति स्थान में श्रान्ति को लाता है। श्रान्ति भी दुःख का एक रूप है। जिस रजोगुण से चालित हो कर मनुष्य ने अपनी सुखसाधक सामग्री का उपार्जन किया था, मानो वही रजोगुण परिणाम में श्रान्ति रूप दुःख का भी उत्पन्न करने वाला हो गया।

श्रांति और दुःख।

श्रान्ति रूप दुःख का प्रगट कारण जब क्रिया हुई, तो क्रिया रहित होने पर याने निष्क्रियता से वह दुःख दूर हो सकता है। निष्क्रियता तमोगुण का लक्षण है और तमोगुण से भी एक प्रकार का दुःख दूर हो कर दूसरे प्रकार का सुख प्राप्त होता है; परन्तु तमोगुण जात केवल निष्क्रियात्मक सुख से जीव का जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता, / इस कारण उसे पुनः रजोगुण के आश्रय से क्रियाशील होना पड़ता है। इन रजो और तमो गुणों के घात प्रतिघातों का जो संस्कार मनुष्य के चित्त पर पड़ता जाता है वह अन्त को उसकी स्वार्थपरता वश अधर्म का जनक हो जाता है।

स्वार्थपरता से अधर्म की उत्पत्ति।

अधर्म की उत्पत्ति में कारण ढूंढ़ने के लिये अबतक जैसा विचार किया गया उस से यही पाया गया कि यदि रजोगुण से चालित होकर याने सुख प्राप्ति के लक्ष्य से, समाज-सेवक अपना नियत कर्म करता रहा होगा तो उसको श्रम का दुःख अवश्य हुआ होगा। और इस दुःख से बचने के लिये तमोगुण का आश्रय उसे लेना ही पड़ा होगा। सुतरां यदि किसी कारण से वह नियत कर्म का त्याग न कर सकेगा तो उस में वह अवहेलना करेगा या अनुचित रीति से उसका संपादन करेगा। उसका ऐसा व्यवहार, समाज के इष्ट के प्रतिकूल होने से, अधर्म में परिगत हो जायगा। इस बात को हम आगे और खुलासा करते हैं।

शारीरिक और मानसिक क्रियाओं से शरीरस्थ स्नायुओं को जो श्रान्ति होती है, निद्रा रूप स्वाभाविक नियम द्वारा उसका अपनोदन (क्षय) होता रहता है। इस तरह शरीर में रजोगुण वात् रूप से और तमोगुण कफ रूप से श्रम और श्रान्ति की दिन प्रति दिन सृष्टि और लय करते रहते हैं। परंतु श्रान्ति का संस्कार चित्त में पड़ता जाता है, और जब वह संस्कार प्रबल हो जाता है तब वह मन में क्रिया से विरति रूप अवसाद को प्रगट करके जीव को क्रिया से यत्र विमुख

मनुष्य से कर्म कराने में नैसर्गिक नियम।

/ बिना धंधे के बैठे बैठे किसी का निर्वाह नहीं हो सकता।

कर देता है। इस तरह तमोगुण, रजोगुण को परास्त करने में समर्थ हो जाता है। यदि परमात्मा की पालनी शक्ति सतोगुण शरीर में पित्त रूप से क्षुधा रूप अभाव को उत्पन्न न कर देवे तो जीव तमोगुणजात निष्क्रियात्मक सुख को छोड़ कर पुनः रजोगुण के आश्रय से यत्न साध्य क्रियाओं के करने में चेष्टान्वित न होवे। अतएव, समाज सेवकों को स्व स्व नियमित कर्म द्वारा समाज की सेवा में नियुक्त रखने के लिये शिक्षा रूपी सामाजिक शक्ति (जिसकी उत्पत्ति सतोगुण से है) जैसी नियंतृ है, वैसे ही परमात्मा के नियम क्षुधा रूप से मनुष्यों को जीविका के लिये समाज की सेवा कराने में प्रेरक हैं। और जैसा पीछे कह आये हैं कि समाज सेवकों की चार श्रेणियां सामाजिक नियमों के अनुकूल वर्ताव से समाज की उन्नति में साधिका होती हैं, वैसे ही परमात्मा के जिन नियमों से मनुष्य जाति में नित नई आवश्यकतायें उत्पन्न हुआ करती हैं जिनकी उचित पूर्ति करने की शक्ति भी उनमें उत्पन्न हो जाया करती है, वे नियम समाज के अर्थ मनुष्यों के कार्य्य तत्पर होने में सहायक होते हैं।

सृष्टि कर्त्ता के इन स्वाभाविक नियमों पर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि परमात्मा का यही अभिप्राय है कि मनुष्य सतोगुण के आश्रय में 'कर्म' करे। अब, वह 'कर्म' सिवाय 'मनुष्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओं के पूर्ण करने के याने समाज का दुःख दूर करने और सुखोन्नति करने के' और क्या होगा।

मनुष्य से कर्म कराने में लौकिक व्यवस्था।

आवश्यक वस्तुओं की अप्राप्ति ही दुःख है। शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि स्वरूप से दुःखदायी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि जो मनुष्य अपने को उनसे बचा सकता है उसके लिये वे दुःखदायी नहीं होते। हां, जो अपने को उनसे नहीं बचा सकता उसके लिये वे दुःखदायी हैं। क्षुधा यदि दुःख रूपिणी होती तो बड़े आदमी क्षुधा-वटिका न खरीदते या औषधालयों में भूख बढ़ाने की दवा न बिकती होती। परन्तु जिसके घर में अन्न नहीं होता उसीको क्षुधा दुःखदायिनी होती है। अतएव दुःख से जीवों का द्वेष रहने से यही समझा जाता है कि प्रकृति जीवों को श्रमशील और उद्यमशील होने को कहती है। इसी से अपनी आवश्यकताओं के पूरक कर्मों में मनुष्य अपनी स्वाभाविक बुद्धिवृत्ति का संचालन करते देखे जाते हैं। अब, इस व्यक्तिगत स्वाभाविक कर्म-प्रवृत्ति को समाज स्थापकगण लोकोपकार के लक्ष से, याने दुःख दूर होकर लोगों को सुख मिले इस उद्देश से, किसी नियमित प्रणाली से चलाना चाहते हैं। इनकी यह नियमित प्रणाली ही समाज-सेवा रूप कर्मों की श्रेणियां हैं जिनका वर्णन हम पहिले कर आये हैं।

समाज-सेवकों की समाज-सेवा स्वार्थपर क्यों हो जाती है ?

समाज-सेवकों की श्रेणीगत समाज सेवा में परस्पर के श्रम का विनिमय जीवन निर्वाहोपयोगी द्रव्यों के द्वारा होने से उनमें परार्थ परता का ज्ञान होना अतीव कठिन है। क्योंकि इसका मूल ही आजीविका है। श्रमके आदि में जीविका का प्रश्न है और श्रम की समाप्ति में जीविका प्राप्ति रूप उत्तर है। श्रमके आदि में स्वभाव श्रमकारी को बताता है कि तुम जीविका के लिये यह श्रम करते हो; और श्रम के अन्त में, उस श्रम से जिसका उपकार हुआ उससे, श्रमकारी को जब भरण-पोषणोपयोगी कुछ द्रव्य मिलता है तब उसे पुनः अपनी जीविका की बात ही याद आती है। इसीसे वे स्वार्थ पर सुतरां दुःखी बने रहते हैं। यही स्वार्थपरता **समाज-सेवा कीविस्मृति का** कारण है। विना उपयुक्त शिक्षा के मनुष्यों की परार्थपरता तथा निःस्वार्थ समाज सेवा वा सामाजिक कर्त्तव्यता का ज्ञान नहीं हो सकता।

अधर्म से समाज का नाश ?

जब तक मुद्रा का प्रचलन नहीं हुआ था, एक पदार्थ का विनिमय दूसरे पदार्थ से ही हुआ करता था, तब तक इस स्वार्थ परता में इतना लोभ नहीं दिखाई दिया था जितना आज कल है; क्योंकि कोई भी किसी चीज़ को अधिक संख्या वा परिमाण में बहुत दिनों तक नहीं रखना चाहता था। कारण उस प्राचीन काल में विनिमय योग्य अन्नादि वस्तु ही लोगों का धन होने से, ऐसे धन को जमा करके रखने की प्रवृत्ति उनमें नहीं होती थी। क्योंकि अन्नादि वस्तु अधिक दिन रक्खी रहने से खराब हो जाती है। किन्तु मुद्रा (रुपये पैसे) रक्खे रहने से खराब नहीं होता, इस कारण मुद्रा के प्रचलन के साथ साथ लोभ भी बढ़ता गया। कहावत प्रसिद्ध है कि लोभ ही पाप का मूल है। किन्तु केवल लोभ समाज का अनिष्ट कारक नहीं हो सकता यदि कर्त्ता में परार्थ परता तथा समाज सेवा का ज्ञान बना रहे।† लोभ केवल कर्त्ता के ही आध्यात्मिक उन्नति का बाधक हो सकता है इस कारण वह

† अामेरिकन लोग धन के इतने लोभी हैं कि उनका नाम "धनका उपासक" पड़ गया है। किन्तु वे ऐसे लोभी नहीं हैं कि दूसरों का अनिष्ट साधन करके धन एकत्र करते हों। वे नये नये उद्योग धन्धों से रुपया कमाने के लोभी हैं। धन कमाने के लोभ से वे समाज की आवश्यकताओं को ढूंढते रहते हैं। समाज के लिये नई आवश्यकताओं का उद्भावन करते हैं। फिर जिन उपायों से उनकी पूर्ति करते हैं उन्हीं उपायों के द्वारा वे अपने लिये धन का उपार्जन करते हैं। यद्यपि उनकी ऐसी धनोपार्जन की प्रणाली लोभमूलक है तथापि उनके इस कार्य्य से उनके देश की समुन्नति ही होती जाती है। हां यदि वे इसी प्रणाली को निष्काम रूप दे देवें अर्थात् केवल समाज की समुन्नति को ही अपना स्वार्थ वा उद्देश्य बनावें तो धनके सिवाय शांति भी उनको प्राप्त हो।

पाप है। परन्तु **लोभ और समाज सेवा की विस्मृति** दोनो मिल कर उस अधर्म का रूप हो जाता है जिस अधर्म से समाज का नाश सम्भव होता है।

यह तो तुम सुन चुके कि किन किन कारणों से सामाजिक अधर्मकी उत्पत्ति होती है अर्थात् समाज सेवकगण अपने कर्तव्य कर्मों में अवहेलना करते हैं वा अनुचित रीति से उसका सम्पादन करते हैं जिससे समाज दुर्दशा ग्रस्त हो जाता है। अब उस उपाय को भी सुन लो जिससे न तो "श्रम जनित श्रान्ति का संस्कार चित्त में पड़े" और न सामाजिक अधर्म उत्पन्न हो।

देह की स्वाभाविक और आहंकारिक क्रिया।

भगवान्ने देह की रचना क्षिति, अप, तेज, मरुत, व्योम और मन, बुद्धि एवं अहंकार इन आठ तत्त्वों से की है। इन में से प्रथम पांच तत्त्व देह के स्थूल अवयवों के उपादान कारण हैं, और शेष तीन तत्त्व देह के सूक्ष्मांग के, जिस को अन्तःकरण कहते हैं, उपादान कारण हैं। जीवित प्राणी की देह में दो तरह की क्रियाएँ देखी जाती हैं। एक स्वाभाविक वा दैहिक (Involuntory or mechanical) दूसरी,आहंकारिक वा ऐच्छिक (Voluntary)

दैहिक क्रिया देह की स्थिति के लिये होती रहती है—यथा, अन्न का परिपाक रक्त का संचार, श्वास प्रश्वास, निमेषोन्मेष (पलक मारना), मलमूत्र विसर्जन आदि असंख्य आभ्यन्तरिक क्रियाएँ। इन क्रियाओं के जो फल बाहर प्रकाश होते हैं उनका ज्ञान हमको होता है। यथा, श्वास प्रश्वास, निमेषोन्मेष, मल विसर्जनादि। और जिन क्रियाओं का फल तत्काल बाहर प्रकाश नहीं होता, यथा-अन्न का परिपाक, रक्त का संचार आदि, उन का ज्ञान भी हम को नहीं होता। दैहिक क्रियाओं का कर्ता जीवात्मा नहीं है क्योंकि उस की इच्छा से वे निष्पन्न नहीं होते। इन क्रियाओं की कर्त्तृ तो प्रकृति ही है। इसलिए ये देह की स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। देह की इन स्वाभाविक क्रियाओं से स्थूल शरीर के अवयवों में जो श्रम होता है उसका संस्कार चित्त पर नहीं पड़ता; क्योंकि मनको उस श्रम का बोध ही नहीं होता।

पहिले कह आये हैं कि 'प्रकृति में जो श्रम देखा जाता है उसको दर्शनकार रजोगुण कहते हैं' और 'तमोगुण आलस्य रूप से रजोगुणजन्य श्रम को पराभव करने के लिए व्यस्त रहता है'; अतएव, अब यह कहना पड़ता है कि देह की ये स्वाभाविक क्रियायें प्रकृतिजन्य होने से रजोगुण का ही कार्य है। अतः तमोगुण इनका बाधक अवश्य होता है और इन श्रम सम्बन्धी अवयवों में श्रान्ति लाता है। यह श्रान्ति निद्रा से मिट जाती है। किन्तु निद्राकाल में भी तो शरीर की स्थिति साधक सब क्रियायें चलती ही रहती हैं! तब क्रियाजनित श्रान्ति का दूर होना निष्क्रियता बिना कैसे सम्भव है? यह शंका हो सकती है। अतः सुनो—

शरीर के उपादान पंच तत्त्वों में क्षिति और अप् तत्त्वों पर, तेज और मरुत् तत्त्वों की जो क्रिया ‡ रजोगुण से होती रहती है वही देह की स्वाभाविक क्रिया है। इस स्वाभाविक क्रिया के कारण शरीर में क्षिति और अप् का तथा तेज का भी जो अपचय (waste), रजोगुण के कार्य्य में तमोगुण की बाधा (the nature of resistance in matter) से हुआ करता है उसको पूर्ण करने के लिये सतोगुण की सहायता से क्षुधा और पिपासा रूपी आवश्यकताओं का प्रकाश होता है। अतएव यह कहना पड़ता है कि स्थूल शरीर की स्वाभाविक क्रियाजन्य श्रान्ति का रूप क्षुत् पिपासा है, जिनका ज्ञाता मन है। क्षुत् पियासा (भूख पियास) रूपी यह श्रान्ति निष्क्रियता से दूर नहीं हो सकती परन्तु 'कर्म' से ही दूर होती है। वह कर्म जीविकार्जनी वृत्ति है याने समाज सेवा है।

देह की इस स्वाभाविक क्रिया का उपयोग केवल देह की स्थिति और पालन के लिये है। जब देह की यह स्वाभाविक क्रिया देह की स्थिति और पालन के लिये ही है तब इस क्रिया को सतोगुण मूलक (अर्थात् सतोगुण की भूमिका पर रजोगुण इस क्रिया को केवल सम्पन्न करता है) कहना चाहिये; क्योंकि सतोगुण से ही स्थिति और पालन होता है।

देह की स्वाभाविक क्रिया के विवेचन से यह जाना गया कि जिस क्रिया की भूमिका सतोगुण है और जिसके न हम कर्त्ता हैं और न ज्ञाता, उस क्रिया जनित श्रम का बोध हमको तत्काल नहीं हो सकता; सुतरां मन भी उस से अवसाद ग्रस्त नहीं होता।

---

‡ जब पेट में अन्न और जल नहीं रहता तब तेज पित्त रूप से और मरुत वायु रूप से शरीर के परमाणु और रस पर जो क्रिया करने लगता है उस पर से ही भूख और प्यास लगती है। उस समय पेट में अन्न और जल के पड़ने से उन पर तेज और मरुत अपनी क्रिया करने लग जाते हैं और उस जीव की भूख प्यास शान्त हो जाती है। यदि अन्न और जल पर तेज और मरुत को क्रिया करने का अवसर न मिले तो वे शरीर के परमाणुओं और रस को ध्वंस करते चले जाते हैं जिस से शरीर क्षीन होता जाता है। यदि जीव को लगातार भोजन करने को न मिले तो उसके शरीर पर तेज और मरुत के कार्य जारी रहने से ज्यों ज्यों वह शरीर से दुबला होता जायगा त्यों त्यों अन्न जल के अभाव से तेज और मरुत भी क्षीण होते जायेंगे अर्थात् शरीर के चारों तत्त्व क्षीण होते जायेंगे और अंत को तेल हीन बत्ती की तरह उसका जीवन प्रदीप बुझ जायगा। अभी हाल में इंगलेन्ड के जेल में आयर्लेन्ड का मेकस्विनी नाम का एक व्यक्ति ७४ दिन निराहार रह कर इसी प्रकार से मर गया।

केवल आहंकारिक क्रिया से मन अवसाद ग्रस्त कैसे होता है सो सुनो।

देह की आहंकारिक क्रिया और उस से मनका अवसाद ग्रस्त होना।

मन के सहयोग से कर्मेन्द्रियों के द्वारा शरीर में, तथा मनकी संकल्प-विकल्पात्मक शक्ति के द्वारा अन्तःकरण में जो क्रियायें होती हैं, उनको आहंकारिक क्रियायें कहते हैं। आहंकारिक क्रियाओं का नियमन व्यवसायात्मिका (निश्चय करने वाली) बुद्धि के आधीन है। इस कारण मन अपने को इन क्रियाओं का कर्त्ता मानता है। इसी से-आहंकारिक कहे जाते हैं। खाना, पीना, चलना, फिरना आदि जितने प्रकार की बाह्य क्रियायें हैं सबको, अन्तःकरण शरीरस्थ बाह्य अवयवों द्वारा; और बोलना आदि वाचनिक क्रियाओं को जिव्हा द्वारा; एवं विचार आदि मानसिक क्रियाओं को मस्तिष्क के द्वारा करता है। अन्तःकरण इन क्रियाओं को राग और द्वेष वश होकर करता है। इस कारण, इन क्रियाओं को देह की स्वाभाविक क्रियाओं से भिन्न श्रेणी की बतलाने के लिये ये आहंकारिक कही जाती हैं। आहंकारिक क्रियाओं के मूल में भी रजोगुण है। इन क्रियाओं से जो श्रम तत् अवयवों, पेशी और स्नायु को होता है और उस से जो श्रान्ति का अनुभव होता है, उसका संस्कार चित्त में पड़ता जाता है। श्रान्ति तो निद्रा वा विश्राम से दूर हो जाती है किन्तु श्रांति रूप दुःख का संस्कार एकत्र होकर मन को अवसाद ग्रस्त कर देता है।

आहंकारिक क्रियाजन्य श्रांति, कर्त्ता को मालूम होती है दूसरों को वह तबतक प्रत्यक्ष नहीं होती जबतक कि उसका परिणाम आलस्य वा निद्रा रूप से कर्त्ता में प्रगट न हो।

स्थूल शरीर और चित् सत्ता के घनिष्ट संबंध से अन्तःकरण के अहंकार तत्त्व में शरीर के लिये ममता (यह शरीर मेरा है ऐसा ज्ञानजन्य एक प्रकार की स्वाभाविक वृत्ति) बनी रहती है। इस ममत्व के कारण शारीरिक यावत् अभाव बुद्धितत्त्व में दुःख रूप से प्रतिभासित होने लगते हैं। इस दुःख का अभिमानी होकर अहंकार तत्त्व अपने को दुःखी मानता है। एवं, सुख से प्रीति और दुःख से द्वेष ऐसे स्वभाव के कारण वह, मन और बुद्धि की सहायता से उस दुःख को दूर करने की चेष्टा करता है, जिस से आहंकारिक क्रियाओं का प्रकाश होने लगता है। अतएव, आहंकारिक क्रिया जब अहंकार तत्त्व के दुःख (तमोगुण मूलक अभावों) के दूर करने तथा सुख प्राप्ति के लिये होती है तब इस क्रिया को तमोगुण मूलक (अर्थात् तमोगुण की भूमिका पर रजोगुण इस क्रिया को सम्पन्न करता है) कहना चाहिये।

आहंकारिक क्रियाके साथ धर्माधर्म का संबंध ।

देह की स्वाभाविक क्रिया के साथ अपर किसी देह का साक्षात् सम्बंध नहीं है, इस कारण देह की स्वाभाविक क्रिया में धर्माधर्म का कोई प्रश्न नहीं उठता। आहंकारिक क्रिया, विना बाह्य पदार्थ अथवा अन्य प्राणी के सम्बंध के निष्पन्न नहीं होती। इस कारण आहंकारिक क्रिया में धर्माधर्म का विचार उठता है। आहंकारिक क्रिया जब तमोगुण मूलक होती है तब उस से अधर्म की ही सम्भावना अधिक रहती है। क्योंकि, अदृष्ट कारण बश, चेष्टा मात्र से ही मनुष्य अपना दुःख दूर करने में समर्थ नहीं होता। चेष्टा कभी सफल कभी विफल होती है। सफल और विफल रूप ये दो घटनायें मन में संकल्प विकल्पों को उत्पन्न करती हैं जिस से अन्तःकरण में कामना वा लोभ और द्वेष वा क्रोध वृत्तियों का उदय हो जाता है। अन्तःकरण की इस अवस्था में शारीरिक या मानसिक जो कुछ कर्म किये जाते हैं, उन से जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है उसका स्वरूप बुद्धि में दुःख रूप से प्रतिभासित होता है। ऐसे एकत्रित दुःखके संस्कारसे मन अवसादग्रस्त हो जाता है।

समाज-सेवकों की समाज-सेवा कैसे परार्थ पर हो सकती है।

देह की स्वाभाविक और आहंकारिक क्रियाओं के विवेचन से यह जाना जाता है कि स्वाभाविक क्रिया से अहंकार का सम्बन्ध न रहने से चित्त में ममता उत्पन्न नहीं होती। ममता के अभाव से स्वार्थपरता भी उत्पन्न नहीं होती। आहंकारिक क्रिया के साथ अहंकार तत्त्व का पूर्ण सम्बन्ध रहने से उस में ममत्व ज्ञान बना ही रहता है जिसके कारण दुःख का बोध होता है और उस से बचने के पीछे स्वार्थपरता उत्पन्न हो जाती है। स्वार्थ-परता अधर्म का घर है। इस अधर्म से बचने का उपाय यह है कि हम जो कुछ कर्म करें उन के करने में, स्वाभाविक क्रिया में जो कारण मुख्य है उस को हम ग्रहण करें और आहंकारिक क्रिया में जो कारण मुख्य है उसका हम त्याग करें।

गणेश—स्वाभाविक और आहंकारिक क्रियाओं का जैसा वर्णन आपने किया है उस से यही समझा गया कि इन क्रियाओं के जितने कारण हैं वे सब प्राकृतिक हैं। अतएव प्राकृतिक कारणों पर मनुष्य का ऐसा क्या अधिकार है कि वह मन माना उन में से किसी का ग्रहण और किसी का त्याग कर सके।

मायानन्द—यह सत्य है कि सभी प्रकार की क्रिया प्रकृति मूलक हैं, और प्रकृति पर किसी का ज़ोर नहीं। तथापि, प्रकृति के व्यक्तरूप जो सत्त्व, रज और तमोगुण हैं उन पर मनुष्य का अधिकार है, और इसी अधिकार के कारण मनुष्य में और अन्य प्राणियों में भिन्नता है। इन तीनों गुणों पर मनुष्य का अधिकार वहीं तक है जहां तक कि इनका सम्बन्ध उस के अन्तःकरण के साथ है।

मनुष्य सतोगुण की वृद्धि करके तमोगुण को दबा सकता है, और तमोगुण को बढ़ाकर सतोगुण को दबा सकता है; एवं अपनी इच्छानुसार रजोगुण से सतोगुण की भूमिका पर, अच्छा कर्म और तमोगुण की भूमिका पर बुरा कर्म कर सकता है। मनुष्य को ऐसा अधिकार रहने से ही वह धर्माधर्म, पाप पुण्य का फलभागी ठहराया गया है।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य सतो और तमोगुणों का, जोकि इन्द्रियों से अग्राह्य तात्त्विक वस्तु मात्र हैं, नियमन किस तरह कर सकता है; अर्थात् स्वाभाविक क्रिया में मुख्य कारण जो सतोगुण है उसका ग्रहण, और आहंकारिक क्रिया में जो मुख्य कारण तमोगुण है उसका त्याग, मनुष्य स्वकर्म के सम्पादन में किस तरह कर सकता है?

इसका उत्तर यह है—स्वाभाविक क्रिया देह की रक्षा के हेतु होने से प्रकृति का ऐसा कर्म परार्थ है। अतएव, हम भी यदि परार्थ की चिन्ता से सब कर्म करें तो हमारे अन्तःकरण में सतोगुण की वृद्धि होगी। आहंकारिक क्रियाएं प्रधानतः अपने लिये ही की जाती हैं, यदि हम इन कर्मों को केवल स्वार्थ के वश हो कर ही न करते रहें तो हमारे अन्तःकरण में तमोगुण घटता जावेगा। प्राकृतिक नियम ऐसा है कि सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों में से जहां कोई भी एक गुण घट जाता है, तहां उसका प्रतिद्वंदी दूसरा गुण बढ़ जाता है; यथा—रजः के घटने से तमः (निष्क्रियता, आलस्य), तमः के घटने से रजः (क्रियाशीलता, उद्यम), सत्त्व के घटने से तमः (अज्ञान, स्वार्थपरता), तमः के घटने से सत्त्व (ज्ञान, परार्थपरता), बढ़ जाता है। ज्यों ज्यों हम स्वार्थ चिन्ता को छोड़ कर परार्थ की चिन्ता से कर्म करते जायेंगे, त्यों त्यों हमारा तमो गुण घट कर सतोगुण बढ़ता आयगा।

तमोगुण बुद्धि का **अवसादक** है याने मन को संकुचित, अवसन्न और विषादग्रस्त करने वाला है। और सतोगुण बुद्धि का **प्रसादक** है याने मन को प्रसारित, सतेज और प्रफुल्लित करने वाला है। सुतरां, ज्यों ज्यों सतोगुण की बाहुल्यता के कारण मन प्रफुल्लित होता जायगा त्यों त्यों तमोगुण अपनी न्यूनता के कारण रजोगुण को बाधा पहुंचाकर मन में शान्ति तथा क्लेश उत्पन्न न कर सकेगा।

इसका दृष्टान्त यह है कि जब हम किसी दूसरे के किसी दुःख को दूर करने के लिये शारीरिक वा मानसिक परिश्रम करते हैं, उस समय यदि हमें अपनी चिन्ता कुछ भी न हो तो इस श्रमजनित श्रान्ति का संस्कार हमारे चित्त पर नहीं पड़ता। वरन एक प्रकारका सन्तोष बुद्धितत्त्व में प्रतिभासित होने लगता है।

पराया दुःख दूर करने के लिये जो चेष्टा हम में उत्पन्न होती है वह भी अहंकार और रजोगुण जन्य है, किन्तु उसकी भूमिका सतोगुण होने से तमोगुण अपनी शक्ति पूर्णतया प्रकाश नहीं कर सकता। तथापि, अहंकार के संसर्ग से तमोगुण कुछ शक्ति अवश्य प्रकाश करता है जिससे मन कुछ अवसादग्रस्त हो ही जाता है। इससे बचना साधारण गृहस्थ समाज-सेवकों के लिये कठिन है। उनके लिये इतना ही बस है कि वे अपने को सदा समाज का सेवक समझें और यह ध्यान में रखे कि उनका जीवन केवल समाज के ही लिये है। परन्तु जो इस संसारी दोषजन्य अवसाद से भी बचना चाहता है उस के लिये कर्त्तृत्वाभिमान और फलाशा का त्याग करना ही एक उपाय है, जिस की पूर्ण आलोचना श्री गीता के मंत्रों की व्याख्या के समय उपयुक्त अवसर पर की जायगी।

अतएव, चित्तमें श्रमजनित श्रान्ति का संस्कार न पड़ने देने का, और ऐसा संस्कार, जिस से अधर्म की उत्पत्ति की सम्भावना रहती है, उस से बचने का यही उपाय है कि ममता विहीन और स्वार्थ ज्ञान रहित होकर परार्थपरता एवं कर्त्तव्य ज्ञान की चिन्ता से परार्थ के लिये ही कर्म किया जावे। यह कर्म श्रीकृष्ण भगवान् के कहे हुए ४५। ४६ वें मंत्रों के अन्तर्गत "स्वे स्वे कर्मण्य भिरत:" के स्व स्व कर्म हैं जिनका विचार इस समाज तत्व-संवाद में अब तक हम करते आये है, यह वार्त्ता तुम्हारी समझ में आगई होगी।

गणेश—मैं इस बात को अच्छी तरह समझ गया हूँ कि मनुष्य मात्र अपने अपने समाज का सेवक हैं और निःस्वार्थ समाज सेवा अर्थात् परार्थपर होकर अपने वर्णानुसार कर्मों के करने से इन समाज सेवकों को धर्म होता है। समाज की सेवा से ही उनको अर्थ की प्राप्ति होती है जिसका उपभोग वे करते हैं। स्वार्थपर होकर अपने वर्णानुसार कर्मोंका अनुचित रीति से सम्पादन करना वा उनके सम्पादन में अवहेलना करना अधर्म है और उसका फल जो दुःख है सो उनको भोगना पड़ता है।

मायानन्द—बहुत अच्छा। अब आगे, गीतानुशीलन के विषयानुसार हमको उन्नतिशील पाश्चात्य समाजों के सेवक गणों की समाज सेवा के साथ वर्त्तमान भारतीय-समाज-सेवक गणों की (भारतवासियों की) समाज-सेवा की तुलना करते हुए यह देखना है कि उनकी समाज-सेवा निष्काम है वा सकाम, और श्रीगीता का उपदेश उनके लिये कैसा आवश्यक है। और फिर आगे चल कर हमको इस बात पर विशेष रूप से विचार करना होगा कि "स्व स्व कर्म" से भगवान का अभिप्राय **वर्णों के कर्मों** से है अथवा मेरा कहा हुआ **समाज के अनुकूल जीविका निर्वाह योग्य किसी भी कर्म** से है?

गणेश—आपका विश्राम करने का समय आगया इस कारण संकोच होता है कि कुछ प्रश्न करूं वा नहीं ।

मायानन्द—यदि कोई शंका हो तो अवश्य पूछो । यदि संक्षिप्त उत्तर से उसका समाधान हो सकता है समझूंगा तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर भी दूंगा ।

गणेश—जो आज्ञा । आपने ४ थे परिच्छेद के अन्त में कहा था कि सामाजिक अधर्म के कारण देश, जाति वा समाज दुर्दशाग्रस्त हो जाता है और अन्त में उसके नाम और चिन्ह तक मिट जाते हैं । अधर्म की उत्पत्ति का वर्णन जैसा आपने किया उससे मैं यह समझ गया कि किसी भी समाज के मनुष्यों की स्वार्थपरता के कारण वह समाज दुरवस्थापन्न हो जाता है । परन्तु यह मैं नहीं समझा कि अन्त में उसके नाम और चिन्ह तक का मिट जाना कैसे संभव होता है ? मैं यह भी जानना चाहता हूं कि इस अंत की परिस्थिति अथवा लक्षण क्या है ।

अधःपतित समाज के नाश अथवा पुनरुत्थान का कारण

मायानन्द—देश, भेष, भाषा, धर्म (उपासनापद्धति religion), देशाचार (customs), सामाजिक रीतियां (rituals and conventionalities) और पौराणिक विश्वास (traditions and beliefs) इन्हीं से भिन्न भिन्न मनुष्य समाजों की भिन्नता प्रकाशित होती है । जिन कारणों से जो समाज दूसरों से भिन्न जाना जाता है वे ही कारण उसके भिन्नता के लक्षण हैं । किसी समाज राष्ट्र वा जाति की भिन्नता, व्यक्तिता (individuality or personality) के ये लक्षण यदि लोप हो जांय तो मानो उस समाज का ही लोप हो गया, चाहे उस समाज के मनुष्यों का अस्तित्व भले ही बना रहे । लोगों की स्वार्थपरता के कारण ज्यों ज्यों सामाजिक अधर्म की वृद्धि होती जाती है और उससे लोग ज्यो ज्यों दुरवस्थापन्न ॐ होते जाते हैं त्यों त्यों लोगों की स्वार्थपरता अधिक तर बढ़ती जाती है । अन्त में लोग अपने समाज के सब लक्षणों को त्याग करके अन्य किसी सौभाग्यशाली समाज के (जिसके अधीन वे उस समय रहते हों) लक्षणों को ग्रहण करने लगजाते † हैं । इस तरह जब पूर्ण परिवर्त्तन हो जाता है तब उस दुरवस्थाग्रस्त समाज का नाम और चिन्ह मिट जाता है चाहे लोगों की वैषयिक अवस्था इस परिवर्तन से अच्छी भी होगई हो ‡ इस विषय में यदि और अधिक बातें जानना चाहो तो भूतपूर्व जातियों (extinct races and nations) के इतिहास का अनुशीलन करना होगा ।

ॐ पराधीन [३ रा परिच्छेद देखो] । † इसका कारण जानने के लिये 'सामाजिक मनस्तत्व' विज्ञान का अध्ययन करना चाहिये । ‡ ब्रिटेनके केल्ट अथवा केल्ट जाति अब वृटिश जाति होगई है । अमेरिका की एक असभ्य जाति स्पेनिस जाति की अधीनता में स्पेनियर्ड होगई है ।

इस समय हम इतना और कह कर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं कि विद्या और अविद्या, धर्म और अधर्म, सुख और दुःख, सुअवस्था और दुरवस्था का पर्य्याय क्रम से परिवर्त्तन होता रहता है; अर्थात् विद्या के अनन्तर अविद्या और अविद्या के अनन्तर विद्या; धर्म के अनन्तर अधर्म और अधर्म के अनंतर धर्म; सुख के अनंतर दुःख और दुःख के अनंतर सुख; सुअवस्था के अनंतर दुरवस्था और दुरवस्था के अनंतर सुअवस्था—ऐसे इन परिवर्त्तनों के अधीन सभी मनुष्य समाज हैं। इन में जो अप्रिय परिवर्त्तन हैं उनके आघात से जो समाज अपने भिन्नता ज्ञापक लक्षणों (identity) को खो नहीं देता वही समाज धन्य है; क्योंकि जब तक जातीयता (nationality) उस में है तब तक उस में जातीय जीवन भी है। अतएव जो समाज जीवित है उसको किसी काल में पुनः विद्या, धर्म, सुख और सुअवस्था की प्राप्ति होना सम्भव है। जैसे, कोई रोगी कैसा ही कंकालसार (अस्थि-पंजर मात्र) क्यों न हो, जिन्दा है तो पुनः उसके शरीर पर मांस चढ़ सकता है।

भारत के पुनरुत्थानके लक्षण।

यदि तुम भारतीय आर्य जातिके उत्थान और पतनके कारणोंका अनुसन्धान करनेके लिये वैदिक कालसे आज तक इस जाति पर होने वाले आघातों-प्रत्याघातों पर विचार करोगे तो देखोगे कि विद्या और अविद्या, धर्म और अधर्म, सुख और दुःख एवं सुअवस्था और दुरवस्था रूप परिवर्त्तनों के घात-प्रतिघातोंसे विचलित होने पर भी यह जाति अपने जातीय लक्षणोंमें से देश, देशाचार, सामाजिक रीतियां और पौराणिक विश्वास नामक चार लक्षणोंको न छोड़नेसे † ही अब तक जीवित है। यद्यपि इन लक्षणों पर (देश नामक लक्षण को छोड़ कर) बहुतोंका आक्षेप है, और एक प्रकारसे यह मिथ्या भी नहीं है, तथापि केवल पूर्वजोंके स्वीकृत इन लक्षणों के आश्रयसे ही यह जीवित बनी हुई है। जब यह जाति जीवित है याने इसका नाम और चिन्ह बना है तब विद्या और धर्मके सहारे इसका पुनरुत्थान भी संभव है; और ऐसी संभावनाका सूत्र पात तबसे हो चुका है जबसे इस देशके लोग पुनः अपनी भूत तथा वर्त्तमान दशाको देखने सुनने तथा सोचने समझने लगे हैं।

† कुमारी श्रेनर [Miss Schreiner] लिखती हैं—"दक्षिण अफ्रिकाकी कुछ डच जाति के लोग, कोई २०० वर्ष पूर्व अपने देश डेनमार्कसे आकर आफ्रिकाकी एक असभ्य जाति के साथ रहने लगे थे, पर वे अपने देशके रिवाज रसमोंको आज तक इस प्रकार पकड़े हुए हैं जैसे नदीमें बहता हुआ आदमी किसी आश्रयको थांबे रहता है। यदि वे अपने देशकी स्मृति इस प्रकार से बनाये न रखते तो अपने देशके सम्बन्धसे छूट कर कभी के इन असभ्य हबसी जातिके साथ मिलगये होते। अतएव अपने पूर्वजों का अनुकरण करना इस जातिकी परिस्थितिके अनुसार कल्याण कारक हुआ है। इस प्रकार की अवस्थामें पड़ कर युरोपकी अच्छी २ जातियां अपनी २ जातीयताको खो बैठी हैं।" (Social psychology)।

६ परिच्छेद ।

वर्तमान सभ्य समाजों की दशा का चित्र

अर्थात्

पाश्चात्य समाज-सेवकों की कर्त्तव्यपरायणताके साथ भारतीय समाज-सेवकों की कर्त्तव्यपरायणता की तुलना और उनकी समाज-सेवा निष्काम है या सकाम इस बातका दिग्दर्शन ।

भायानन्द—वर्तमान किसी भी स्वतंत्र पाश्चात्य सभ्य समाजके श्रम विभाग पर दृष्टि डालनेसे यह देखनेमें आता है कि रक्षा-श्रेणीमें केवल राजाको छोड़ (जिस देशमें राजा हो) और किसीमें श्रम विभागकी व्यवस्था वंशानुगत नहीं है, जैसे कि भारतवर्षीय आर्य जातिमें श्रेणीगत श्रमकी व्यवस्था वर्ण धर्म रूपसे वंशानुगत है । पाश्चात्य देशोंमें सामाजिक श्रमके विभाग अपने अपने श्रमके गुणानुसार भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं, यथा—राजा, सैनिक, व्यापारी, लोहार, बढ़ई, पुरोहित आदि । इनके (केवल राजाको छोड़) वंशानुगत होने या न होनेके लिये विधि-निषेधात्मक कोई शास्त्रीय शासन नहीं है । भारतवर्षमें सामाजिक श्रमके जो चार मुख्य विभाग हैं वे वर्णोंके इन नामोंसे, यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, विख्यात हैं । और श्रमके इन विभागोंमें जो उपविभाग हैं वे, यद्यपि पाश्चात्य देशोंके समान ही अपने अपने श्रमके गुणानुसार नामोंसे ही पुकारे जाते हैं तथापि वे वंशानुगत होकर जाति वाचक हो गये हैं । जैसे; सुनार, लोहार, बढ़ई आदि । पाश्चात्य देशोंमें सामाजिक श्रमका विभाग लोगोंके लिये समाज विहित जीविका मात्र है, जातिसे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है‡ । परन्तु भारतवर्षमें उन्हीं समाज विहित जीविकाओंसे, स्वाभाविक लक्षणयुक्त जातिके अतिरिक्त, अनेकों नई नई जातियां उत्पन्न होगई हैं । स्वाभाविक लक्षणयुक्त जातिभेद, देश और भाषाभेदसे जैसा भारतवर्षमें है वैसा ही वह पृथ्वीके और और बड़े बड़े देशोंमें भी है । परन्तु जीविकाके भेदसे जातिभेद विचार केवल भारतवर्षका ही देशाचार है ।/

‡ पाश्चात्य यूरोपीयनोंमें भी एक प्रकार का जाति-विचार है जिसका मूल, धन और पदकी मर्यादा है । इस प्रकार का जाति-भेद धनी और दरिद्रमें, उच्च और निम्न घरानोंमें, प्रतिष्ठित और सामान्य पुरुषोंमें है ।

/ यथार्थमें जाति विचार केवल मुसलमानों में नहीं है । अन्यथा, सर्वत्र जाति विचार किसी न किसी रूपमें पाया जाता है ।

पश्चिमी समाजके लोग अपने अपने गुण, सामर्थ्य तथा रुचिके अनुसार जीविकाके लिये किसी धन्धे (कर्ममें) लग जाते हैं। जो लोग

श्रमजीवी।

दैनिक, साप्ताहिक वा मासिक वेतन लेकर किसी के यहां, या किसी कारखानेमें शिल्प कौशल रहित शारीरिक श्रमसाध्य कर्म करते हैं वे बनिहार कहे जाते हैं। और जिनके शारीरिक श्रमसाध्य कर्मोंमें शिल्प कौशलकी आवश्यकता रहती है वे अपने अपने शिल्प कौशलके नामसे पुकारे जाते हैं। समाजके और लोग जो इनसे अच्छी अवस्थामें होते हैं, और जो लोग इनके तुल्य शारीरिक परिश्रमसाध्य कर्मोंसे जीविका नहीं करते, इनको अपनेसे नीचा समझते हैं। ये लोग जब चाहें तब अपना काम छोड़ कर घर बैठ जाते हैं। इनकी यह समझ है कि हम केवल अपने लिये ही मजदूरी करते हैं। यदि शरीर पोषणकी आवश्यकता रूपी व्याधि इनके पीछे न लगी रहे तो ये लोग मजदूरी कभी न करें। काम करनेके समय जहां तक इनसे बनता है 'कामचोरी' करते हैं। इस लिये इनसे काम लेनेवालोंको या तो इनके सिर पर सवार रहना पड़ता है या इनसे ठेकेमें काम कराना पड़ता है। राजा साधारण राज-नियमसे इनको काम करनेके लिये बाध्य नहीं कर सकते जब तक इन्होंने किसीका काम करनेका ठेका न ले लिया हो। परन्तु जगत्-नियन्ताने समाजके धारणार्थ मानों इनसे इकरारनामा लिखा ही लिया है, इसीसे जब इन पर भूख रूप दण्ड पड़ने लगता है तब ये फिर काम करने को दौड़ते हैं †।

बनिहार जो कामचोर होता है उसको लोग काममें लगाना नहीं चाहते। इससे वा अन्य कारणोंसे जिनकी रोजी नहीं लगती वे भीख मांग कर या अन्य किसी बुरे उपायसे पेट पालने लगते हैं। इनका भीख मांगना और बुरे कर्म करना बंद करनेके लिये राजा दण्डका, और धर्मयाजकगण भगवानके भय-युक्त धर्म-शिक्षाका प्रचार करते रहते हैं; परन्तु जब तक इनके साथ पेट लगा है तब तक इन उपायोंसे आशानुरूप फल नहीं मिल सकता।

भारतवर्षमें भी मजदूरोंका ऐसा ही हाल है; परंतु विशेषता यह है कि यहां भीख मांगनेवालोंको राज दण्ड नहीं मिलता। जाति-विचारके रहने (उच्च वर्ण

---

† मजदूरोंकी यह प्रकृति देख कर कारखानोंके मालिक लोग इनकी सांसारिक परिस्थिति की बाबत इनकी उस स्वच्छन्दताके घटानेका विचार कर रहे हैं जिससे ये उस स्वच्छन्दताके लोभसे दबकर काम करें अर्थात् भविष्यत् के लिये अर्थका संग्रह करने सीखें।

निम्नवर्ण द्वारा सन्मानकी दृष्टिसे, और निम्नवर्ण उच्चवर्ण द्वारा हेयताकी दृष्टिसे देखे जाने) पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णोंमेंसे जिन लोगोंको अपने दोषसे वा दरिद्रावस्थाके कारण यदि ऐसी शूद्रोचित श्रमसाध्य जीविका उठानी पड़ती है तो उनको भी अच्छी अवस्थावालोंकी दृष्टिमें हीन होना पड़ता है, जिससे उनका मन लगाकर श्रम करनेका उत्साह जाता रहता है और अन्तमें वे भी कामचोर हो जाते हैं।

इन दिनों बड़े बड़े कारखानोंमें मज़दूरोंके नैतिक सुधारके लिये पाठशालाओंकी योजना हो रही है, साथ ही उनकी सन्तानकी शिक्षाके लिये राष्ट्रकी ओरसे निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षाकी व्यवस्था हो रही है। परन्तु जबतक इन श्रमजीवियोंको ऐसी शिक्षा न दी जायगी कि "जिस देशमें वे रहते हैं उस देशका मनुष्य-समाज परमात्मा का रूप है, और जिसका काम वे अभी कर रहे हैं वे इस समाज रूपी परमात्माको उनकी सेवा पहुँचानेके तथा उनको जीविका दिलानेके निमित्त हैं----अतएव, प्रेमके साथ एवं मन लगाकर काम करना ही उनका धर्म है। अर्थकी चिन्तासे समाज-भगवानकी सेवा नहीं करना चाहिये, अर्थ तो उनकी सेवाके विनिमयमें आप ही उनको प्राप्त होगा" श्रीगीताकी ऐसी शिक्षा जबतक श्रमजीवियोंको न दी जायगी तबतक इनकी 'कामचोरी' दूर न होगी। और जबतक अच्छी अवस्थावालोंसे एवं ब्राह्मण, क्षत्री वैश्य आदि उच्च जातिका अभिमान करनेवालोंसे ये समानताकी दृष्टिसे न देखे जायेंगे तबतक अपने कर्मोंमें इनको उत्साह न होगा। उत्साहके बिना किसी भी काममें मन नहीं लग सकता और न कोई काम सच्ची लगनसे किया जा सकता है।

प्रेमकी भावनासे उत्साहित होकर जो काम किया जाता है उस से काम करने वाले को श्रम का कष्ट नहीं जान पड़ता,† और वेतन देने वाले को भी उससे प्रसन्नता होती है। इस प्रकार जीविका के एक सामान्य कर्मसे भी पुण्य का उदय होता है।

मसीजीवी- जो लोग किसीके लिये या किसी कारखाने में वा किसी सरकारी दफ़्तर में लिखने-पढ़ने तथा हिसाब रखने का काम करते हैं वे वर्त्तमान कालमें क्लार्क, मुहर्रिर, हिसाब नवीस,

† इस बातकी सत्यता आजकलकी सेवा-समितियोंके स्वयंसेवकों के एवं देशहितैषी देश सेवक नेताओंके कठिन परिश्रमसाध्य कर्मोंसे विदित होती है।

मुन्शी, मुनीम, गुमास्ता आदि नौकरी पेशावाले मशीजीवी कहलाते हैं। ये अपने भरण-पोषण के निमित्त ही नौकरी करते हैं। यदि भरण-पोषण की चिन्ता इन्हें न हो तो ये भी नौकरी न करें। नौकरी-पेशावालों की गृहस्थी की व्यवस्था श्रमजीवियों की गृहस्थी से उन्नत होने के कारण, एवं लोगों में इनका सम्मान भी है यह जानकर, और इस ज्ञान से भी कि उनकी जैसी नौकरी जहां तहां जब चाहे तब नहीं मिल सकती, और ये स्वयम् भी कुछ लिखे पढ़े होने के कारण भविष्यत के विचार से इनमें अपनी अपनी नौकरी निबाहने का ज्ञान मज़दूर पेशावालों से अधिक रहता है। परन्तु अपने मनमें ये भी नौकरी को एक बोझसा ही समझते हैं। जिनकी नौकरी ये करते हैं बहुधा उनकी भलाई की चिन्ता ये नहीं करते। इन नौकरी पेशावालों में से जिनकी नौकरी में सरकारी जनता के साथ व्यवहार रहता है याने जिनका काम निबाहने के लिये इनकी नौकरी है, उनको तो ये कभी अपने मालिक ही नहीं समझते। अपने अफ़सर को या जिससे नौकरी मिलती है उसको ये अपना मालिक समझते हैं। परन्तु जिनके लिये उनकी यह नौकरी है उनके आराम की परवाह इनको कुछ भी नहीं होती। यदि कहीं किसी में ऐसी परवाह देखने में आती है तो वह उसकी स्वाभाविक सज्जनता से है अथवा अपने मालिक या अफ़सर के डरसे है, कुछ समाज की सेवा के ज्ञान से नहीं है।

ऊपर मशीजीवियों का जो वर्णन किया गया है वह हिन्दुस्थान के मशीजीवियों को पूर्णतया लागू होता है। पाश्चात्य देशों के मशीजीवियों की नैतिक-अवस्था इससे अच्छी है। हिन्दुस्थान में प्राचीन काल में राष्ट्रीय नौकरियों को छोड़ कर अन्य नौकरियों की इतनी भरमार न थी जितनी कि वर्तमान काल में है। और इसी नौकरी पेशा के अर्थ अंगरेज़ी राज में शिक्षा का भी प्रचार पहले से बहुत अधिक हुआ है। पुराणों से वा स्मृतियों से इस नौकरी पेशा का पता नहीं लगता, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि अपने अपने वर्णों में नौकरी-पेशा उसी उसी वर्ण के लोग करते रहे होंगे। और व्यापार एवं शिल्पकला की परिस्थिति भिन्न प्रकार की रहने से नौकरी की संख्या भी कम रही होगी। परन्तु इस काल में वैदेशिक शिल्प-व्यापार की वृद्धि के कारण एवं प्रसरणशील राज्य प्रबन्ध के कारण नौकरियों की संख्या अधिक होने से एवं लोगों की पूर्व परिस्थिति के बदल जाने से चारों वर्णों के लोग नौकरी-पेशावाले हो गये हैं। ‡

‡ इस विषय पर जिनको पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करना हो वे कांग्रेसकी वक्तृताओं का अध्ययन करें और Wealth of India नामक मासिक पत्रमें (जो २५ वर्ष पूर्व कलकत्ते से प्रकाशित होता था) India's poverty & its-remedy नामके प्रबंध को पढ़ें।

समाज-सेवा के इस विभाग में काम करनेवाले, थोड़े बहुत विद्वान होने से धर्म और अधर्म के प्रचलित रूप को जान सकते हैं, परन्तु इस बात को ये नहीं जानते कि जिस नौकरी से उनकी जीविका का निर्वाह होता है उसमें भी धर्म और मोक्ष का बीज पड़ा हुआ है। अपने को समाज रूपी भगवान का सेवक समझ स्वार्थ रहित होकर प्रेम से यदि वे अपने उस नौकरी के काम को करें तो उसी से उनको धर्म और मोक्ष भी मिल सकती है, जैसा कि इस समय उन्हें केवल अर्थ और काम (भोग) मिल रहे हैं।

मज़दूरी पेशा वाले तो प्रायः अपढ़ मनुष्य होते हैं। उनको गीता का ज्ञान जबतक कोई दूसरा न बतलावे तबतक वे उसका मनन और अभ्यास नहीं कर सकते। परन्तु नौकरी-पेशावाले लिखे-पढ़े होने से श्रीकृष्ण भगवान कथित गीता के उपदेशों को वे स्वयम् पढ़कर उनका मनन और अभ्यास कर सकते हैं। श्रीगीता की शिक्षाओं के मनन से उनको Public (समाज) Public service (समाज-सेवा) एवं I have the honor to be, sir, your most obedient servent* के यथार्थ रूप और अर्थ का ज्ञान हो जायगा, जिनके अपूर्ण या यत्किंचित् (अल्प) ज्ञान से ही युरोप, एमेरिका, जापान आदि के निवासी धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में पृथ्वी पर श्रेष्ठ जाति हो रहे हैं। अवश्य ही मोक्ष के लिए इनको भी गीता-ज्ञान की आवश्यकता है।

शिल्पजीवी।

नारायण ने मनुष्यों के भरण-पोषण, लौकिक सुख और रोगों की शांति के लिये आवश्यक सामग्री का उपादान अमित रूप से भूगर्भ, भूपृष्ठ, जलाशय और वायुमंडल में संचित कर रखा है। और वही नारायण आवश्यकताओं (Natural wants) के द्वारा इन संचित पदार्थों का संग्रह करने में और उनको व्यवहार में लाने के लिये मनुष्य हृदय को प्रेरित करता

---

* इस अंगरेजी वाक्य का अर्थ है-" हे महाशय ! मैं आपका अतिशय आज्ञाकारी होने में अपने को सम्मानित समझता हूं " सरकार से जो पत्र समाज के किसी व्यक्ति को लिखा जाता है उसके बरखेहार में यह वाक्य लिख कर दस्तख़त करने की रीति है। इससे यह स्पष्ट है कि सरकार तथा व्यक्ति मात्र समाज के सेवक हैं। कोई एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का न मालिक है और न सेवक, ये परस्पर एक दूसरे का सहकारी है। केवल समाज ही सबका मालिक है। उस समाज के यथार्थ रूपको जो व्यक्ति ज्ञाननेत्र से देख सकता है उसे परमात्मा का दर्शन हो जाता है।

है; इसीसे पुराणकार ऋषियों ने नारायण को क्षीर सागरवासी वा क्षीरोद समुद्रशायी कहा है । जो लोग नारायण के इस आवश्यकता रूप संकेत के अनुसार उत्साहित होकर मनुष्य जाति के स्वाभाविक अभावों को एवं कृत्रिम आवश्यकताओं को दूर करने के लिये धनसे, बुद्धिसे और शरीर से यत्न करते हैं वे ही परमात्मा की दृष्टि में सबे वैश्य हैं; याने समाज के पोषण रूपी श्रम विभाग के सबे कार्तिन्दे हैं, और उन्हीं को नारायण की अर्द्धांगिनी देवी लक्ष्मी भी अपना आश्रय देती है, अर्थात् उन्हीं को सुख-सौभाग्य प्राप्त होता है ।

इस पोषण रूप सामाजिक श्रम विभाग में चार मुख्य विभाग हैं जिनके अन्तर्गत असंख्य उपविभाग हैं । वे चार मुख्य विभाग ये हैं, यथा—

(१) संग्राहक—जो कच्चे मालका संग्रह करते हैं ।

(२) कारुक (शिल्पी) जो संगृहीत कच्चे माल से व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ तैयार करते हैं ।

(३) व्यापारी—जो कच्चे माल तथा तैयार वस्तुओं का क्रय विक्रय करते हैं ।

(४) वाहक—जो कच्चा तथा पक्का माल एक स्थान से अन्य स्थान को ले जाते हैं ।

(१) संग्राहक—(क) जो लोग कृषि कर्म द्वारा अन्न का और रूई आदि कच्चे मालका संग्रह करते हैं वे कृषक कहाते हैं;

(ख) जो पालतू पशु जाति से आहार्य्य और व्यवहार्य्य वस्तु—घृत, ऊन आदि वस्तुओं का संग्रह करते हैं वे पशुपालक कहाते हैं;

(ग) जो जल जन्तुओं से आहार्य्य और व्यवहार्य्य सामग्री का संग्रह करते हैं वे मछुए कहाते हैं;

(घ) जो नभचर पक्षियों से और वनचर जन्तुओं से आहार्य्य और व्यवहार्य्य सामग्री संग्रह करते हैं वे व्याधा (व्याध) कहाते हैं;

(च) जो भूगर्भ से धातु, तेल, कोयला, आदि व्यवहारिक पदार्थों को निकालते हैं वे खनिक कहाते हैं;

(छ) जो समुद्रगर्भ से मोती, मूंगा, कौड़ी आदि व्यवहार्थ्य द्रव्यों का संग्रह करते हैं वे डुबकीमार कहाते हैं; इत्यादि, ये सब संग्राहक विभाग के उप विभाग हैं।

इस विभाग में कर्म करने वाले भी अपने अपने कर्मों को जीविका के लिये ही करते हैं, समाज सेवा के ज्ञान से निष्काम होकर नहीं करते।

(२) कारुक-(क) जो लोग रूई, पशुलोम या तन्तुओं से कपड़े बुनते हैं उनको तन्तुवाय (जुलाहे) कहते हैं;

(ख) जो लोग तिल, सरसों आदि तिलहन बीज से तेल निकालते हैं वे तेली कहाते हैं;

(ग) जो लोग लोहा नामक धातु से लोहे का सामान बनाते हैं वे लोहार कहाते हैं;

(घ) जो लोग खनिज धातु तामा, सीसा आदि से मिश्र धातु बनाते हैं, और तामा, एवं पीतल, कांसा आदि प्रस्तुत धातुओं से बर्तन बनाते हैं वे अपने अपने कारके अनुसार तमेरे, कसेरे कहाते हैं;

(च) जो लोग सोने चांदी से गहने आदि वस्तुएं बनाते हैं वे सुनार कहाते हैं;

(छ) जो लोग लकड़ी का सामान बनाते हैं वे बढ़ई कहाते हैं;

(ज) जो लोग "मिट्टी से बर्तन, ईंट आदि का सामान बनाते हैं वे कुम्हार कहाते हैं;

(झ) जो लोग पत्थर की वस्तुएं बनाते हैं वा पत्थर से कोई इमारती सामान गढ़ते हैं वे लढ़िया कहाते हैं;

(ट) जो लोग कच्चे चमड़े को पकाते हैं वे चमार कहाते हैं और जो पक्के चमड़े से जूता आदि चमड़े का सामान बनाते हैं वे मोची कहाते हैं।

ऐसे अनेकों उपविभाग इस कारुक विभाग के अन्तर्गत हैं। कारुक विभाग के उपविभागों का अन्त नहीं है। मनुष्यों के बुद्धिकौशल और उद्योग से कारुक के उपविभाग दिनों दिन पाश्चात्य देशों में बढ़ते चले जा रहे हैं। इस विभाग में काम करने वालों को एक न एक शिल्पकला के ज्ञानकी आवश्यकता है। अन्य देशों में ये लोग अपने अपने शिल्प-कर्म के अनुरूप नामों से पुकारे जाते हैं, परन्तु भारतवर्ष में इन नामों से अनेक नाम जातिवाचक हो गये हैं। जीविका के उपायों की संख्या अमर्यादित है, अतः जीविका के उपाय मात्र यदि जाति माने जायें और उनमें परस्पर जाति-विचार† के दोष हों तो ऐसे लोगों की समदर्शन रूपी आध्यात्मिक उन्नति दुःसाध्य है, चाहे धर्म के नैतिक अंगों का कैसा ही अधिक पालन करने वाले वे क्यों न हों। ‡

इस विभाग में काम करने वाले भी जीविका के लिये ही कर्म करते हैं कदाचित् ही किसी को समाज-सेवा का ध्यान रहता है। कचित् ही कोई स्वार्थ-भावना रहित होकर समाज के लोगों का सुख बढ़ाने के उद्देश्य को मुख्य ध्येय बना कर किसी शिल्प कर्म को खड़ा करता है अतएव, इनके लिये भी श्री गीता के उपदेशों की बड़ी आवश्यता है।

(३) व्यापारी—इस विभाग में कई उपविभाग हैं। अपनी अपनी बुद्धि, विद्या और धन बल के अनुसार कोई व्यापारी देश देशान्तरों से कच्चा, पक्का माल खरीद कर देश देशान्तरों में थोक बन्दी बेचता है; कोई अपने ही शहर में, थोक बन्दी माल खरीद कर दुकानदारों को फुटकर बेचता है; कोई दुकान लगा कर फुट कर माल गृहस्थों के हाथ बेचता है; और कोई फेरी करके घर घर माल बेचा करता है। जो जिस माल का क्रयविक्रय अधिकता से करता है वह उसी माल के नाम से या किसी विशेष नाम से पुकारा जाता है।

---

† जिस नियम के कारण एक जाति दूसरी जातिका अन्न नहीं खाती, परस्पर पुत्र कन्याका विवाह नहीं करती उसको जाति-विचार कहते हैं। और जहां एक दूसरे को हीनत्वाहेय समझता है, एक दूसरे का पानी पीने से अधर्म होना मानता है वहां जाति-विचार दोषयुक्त हो जाता है यह दोष आध्यात्मिक उन्नति का बाधक है।

‡ यह बात इस समय भारत में बहुत कुछ दिख रही है। नीति विषयक धर्म तो बहुत बढ़ा हुआ है परन्तु आध्यात्मिक धर्म जिससे ब्राह्मि स्थिति प्राप्त होती है घटा हुआ है श्री गीता अ० ५ में १८—१६ की व्याख्या देखिये।

इस क्रय-विक्रय रूप व्यापार में कोई, कोठीवाल होकर रुपयों के लेन देन के द्वारा, सहायता करता है; कोई आढ़तिया होकर माल के उतारने और बेचने में मदद देता है; कोई दलाल होकर खरीदार और बेचनदार के बीच भाव ताव तय कराता है।

इस विभाग में काम करने वाले भी जीविका के और धन कमाने के लिये ही कर्म करते हैं। यद्यपि इनमें ऐसे अनेक हैं जो पुण्य कार्यों में और † धार्मिक कार्यों में लाखों रुपये व्यय करते हैं; तथापि इन में ऐसे कितने हैं जो अपनी छाती पर हाथ रख कर यह कह सके हों कि हम अपने को समाज का सेवक जानते हुए अपने कारो-बार द्वारा निष्काम होकर, यानि जीविका को अथवा धनार्जन को मुख्य न मानकर समाज की सेवा करते हैं! यदि ये ऐसा न कह सकें तो इनके लिये भी गीता के उपदेशों का मनन करने की बड़ी आवश्यकता है।

(४) वाहक—यह विभाग कच्चे और तैयार माल के स्थानान्तरित करने में उपरोक्त तीनों विभागों का सहायक होता है। यह समाज के लोगोंको और उनके माल--असबाब को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचाता है। यह विभाग यात्री और माल एवं पत्रों के ढोने में जहाज, नाव, रेलगाड़ी, ट्राम, मोटर, बाइसिकिल, ठेला-गाड़ी, बैल-गाड़ी, एवं ऊंट, हाथी, घोड़ा, खच्चड़, गधा, बैल, बकरे और मनुष्य तक से काम लेता है। और अब वायुयान से काम लेने का प्रबन्ध हो रहा है, कहीं कहीं लिया भी जाने लगा है। इस विभाग में काम करने वाले भी जीविका के लिये ही कर्म करते हैं, कुछ समाज—सेवा के ज्ञान से काम नहीं करते। इनमें जहाज और रेलगाड़ी चलाने वाली बड़ी बड़ी संस्थाओं के जो धन सम्पन्न उच्च पदाधिकारी कर्मचारी हैं उनमें समाज-सेवा का ज्ञान रहते हुए भी उनकी निष्काम भावना में सन्देह है। इन संस्थाओं के नियामकों ने निम्न-कर्मचारियों के लिये यह नियम बना रक्खा है कि ये अपने को Public servant (जनता का सेवक) समझें और जिस समय जिससे (यात्री और महाजनों से) उनका व्यवहार उपस्थित हो उस समय उसका काम सभ्यता के साथ (प्रेम पूर्वक) करें। पाश्चात्य देशों के रेल-कर्मचारियों का सार्वजनिक व्यवहार भारतीय रेल-कर्मचारियों के व्यवहार से अवश्य ही अच्छा होगा क्योंकि वे स्वाधीन देश हैं। किन्तु भारतीय रेल-कर्मचारियों का व्यवहार आशानुरूप सन्तोष जनक न भी हो तो जनता को उस पर आक्षेप नहीं करना चाहिये, क्योंकि न तो यह देश स्वाधीन है और न इनको श्रीगीता की उचित शिक्षा ही मिली है।

† इष्टकर्म और धर्म कर्म का भेद परिच्छेद १ पृ० १९ में देखिये। श्रीगीताके मतोंकी व्याख्याके अवसर पर इस भेदका विचार विस्तारसे किया जायगा।

समाज-सेवाओं का कर्तव्य

उपरोक्त चारों विभागों में काम करनेवाले अपने अपने व्यवसाय की परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार श्रम जीवियों और मशीजीवियों की सहायता लेते हैं। इनके कारोबार निर्विघ्न सम्पन्न होने के लिये इनको, देश के शस्त्रजीवियों से (शासन-विभाग से) भी सहायता मिलती रहती है। पाश्चात्य देशों के शास्त्रजीवी (अध्यापक एवं पादड़ी) भी इनके सहायक हैं। परन्तु भारत में इनको शास्त्रजीवियों से (अध्यापक, पण्डित और पुरोहितों से) जो कुछ उचित और आवश्यक सहायता मिलती है वह नहीं के समान है। किसी भी सभ्य समाज में जितने मनुष्य होंगे उनमें से तीन भाग बहुत करके ऐसी ही समाज-सेवा में लगे होंगे। जीवन के पोषण करनेवाले एवं शरीर और मनको सुख पहुँचानेवाले कर्मों की संख्या नियत नहीं है। इस श्रेणी के कर्मोंके करनेवालों की विद्या, बुद्धि, उत्साह और दक्षता पर इन कर्मों की संख्या का घटना-बढ़ना निर्भर रहता है। परन्तु लोग स्वार्थवश इस समाज-सेवा को उठाते हैं; कुछ स्वार्थ-चिन्ता रहित होकर-केवल समाज-सेवा की बुद्धिसे--इन कार्यों को नहीं करते। अतः स्वार्थ के अनुसंगी दुःख भी इनका पीछा नहीं छोड़ते। अतएव, यदि ये चाहते हों कि स्व स्व जीविकार्जनी वृत्तियोंमें लगे रहते भी हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी सिद्धियोंकी प्राप्ति करें तो इनको चाहिये कि निष्काम धर्माचरण का और समाजके सत्य स्वरूपका ज्ञान लाभ करनेके लिये गीताजीकी परम श्रेष्ठ शिक्षाओंको ग्रहण करें।

यदि समाज-सेवा गण चाहते हों कि धर्म के आश्रयमें भारतका पुनरुत्थान हो, भारत सन्तान पृथ्वीकी मनुष्य जातियोंके लिये उच्च आदर्श बने, अपने देशमें वह सच्चा समाज सेवक हो, पारिवारिक सुख दुःखके युद्धमें अटल रहने वाला एवं चरित्रमें युधिष्ठिरके तुल्य हो, हृदयकी वीरतामें अर्जुनके समान और स्वार्थके त्याग में कर्ण तथा आत्मोत्सर्ग में दधीचिके[१] तुल्य हो; तो वे शिशुओंको क. ख. सिखानेके साथ ही साथ श्रीगीता-ज्ञानाभ्यास कराने का भी प्रबंध करें।

---

[१] असुरोंके साथ देवताओंकी बहुत दिनोंसे लड़ाई हो रही थी। वृत्रासुरसे इन्द्र देव हार रहे थे। ऐसी दशामें देव गुरु बृहस्पतिने यह उपाय बतलाया कि दधीचि ऋषिकी हड्डीसे यदि वज्र नामका अस्त्र बने तो उस अस्त्रसे वृत्रका संहार हो सकता है। तब देवताओंने दधीचिजी से उनकी हड्डी मांगी। ऋषिजीने खुशीसे अपना शरीर छोड़ दिया।

युरोप, आमेरिकादि के पोषण-श्रेणी के वैश्यों से हमारे भारतवर्ष के पोषण-श्रेणी के वैश्यों/ के उद्योग में जो अन्तर है सो यों है कि—

युरोप, आमेरिकादि के—

(१) वैश्य, पहिले शिक्षाश्रेणीसे व्यवहारिक वा अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर के तब किसी शिल्प व्यवसाय हाथ में लेते हैं। वहां की शिक्षाश्रेणी भी विज्ञान की आलोचना बराबर करती जाती है।

(२) वैश्य, मनुष्यों की प्रच्छन्न आवश्यकताओं को (जिनका ज्ञान उनको स्वयं नथा) ढूंढ ढूंढ कर निकालते हैं एवं उनकी पूर्ति करने के लिये नई नई वस्तु प्रस्तुत करते हैं। जिनको देखते ही लोगों में उनकी आवश्यकता जान पड़ने लगती है और वे उन्हें खरीदने लगते हैं। इस प्रकार से पाश्चात्य देशों के वैश्यगण अपने लिये धनागम का रास्ता एवं शिल्पी तथा श्रमजीवियों के लिये नित्य नवीन (नया) जीविका पथ खोलते जाते हैं।

(३) वैश्यों का आना जाना अन्य देशों के साथ लगा रहने से, ये वैदेशिक समाजों के शिल्पों में भी हस्तक्षेप करते हैं; और अपनी विद्या के बल से उनकी शिल्प जात वस्तुओं की उन्नति करके उन देशों के बाजार पर अपना आधिपत्य जमालेते हैं और अपने बुद्धिबल

भारतवर्ष के—

(१) वैश्यों ने बहुत दिनों से अर्थ शास्त्र का ज्ञान शिक्षा-श्रेणी से ग्रहण करना छोड़ दिया है क्योंकि शिक्षा-श्रेणी में विज्ञान की आलोचना का अभाव हो गया है।

(२) वैश्य, विद्या के अभाव से इस चतुराई में निरे गौपति हैं। इस कारण इनमें नये नये उद्योग धंधे देखने में नहीं आते। सुतरां समाज में शिल्प जीवी, श्रम जीवी और मसी—जीवियों[1] के लिये सदा जीविका का अभाव बना रहता है।

(३) यहां के वैश्य बहुत दिनों से कूप मण्डूक वन् हो गये हैं। जिन्होंने पहले पहल जहाज की सृष्टि की थी वे ही अब समुद्र की तरंगों का नाम सुन कांपने लगते हैं और सोचने लगते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि जात का रंग समुद्र के खारे पानी से धो जाय, जैसे जहाज का रंग समुद्र के पानी से खराब हो जाता है। महाभारत शांति पर्व अ० २९९, मेंलिखा

---

(१) शिल्प, वाणिज्यादि उद्योगों में मूल धन के लगाने वाले।

यूरोप, अमेरिकादि के—

से निज देशजात शिल्पों का व्योहार भी वैदेशिक समाजों में जारी करवा देते हैं।*

भारतवर्ष के—

है—"वणिक गण जिस तरह समुद्र में जाकर अपने अपने मूलधन के अनुरूप अर्थ का लाभ करते हैं·······" इससे जाना जाता है कि ५००० वर्ष से भी प्राचीन काल में भारत के वैश्य समुद्र के रास्ते वाणिज्य करते थे जिस समय कि इंग्लैंड आमेरिका का पता भी न था। परन्तु इस घोर कलियुग में विद्या की हीनता से न तो वे अपने ही शिल्पों को वैदेशिक आक्रमण से बचा सके और न विदेशी शिल्पों का ही अनुकरण कर सके। शिक्षा के अभाव से अथवा विपरीत शिक्षा के फल से (समुद्र यात्रा से जातिनाश होती है ऐसी मिथ्या शिक्षा से) यहां के वैश्यों का विद्या-विहीन होने का जो फल हुआ है सो भारतवर्ष में सर्वत्र दरिद्रता के रूप से प्रकाशमान/ है।

(४) धनवान वैश्य अकेले अथवा कम्पनियां करके किसी भी व्यवसाय के लिए बड़े बड़े कारखाने जारी करते हैं जिनमें हजारहां मनुष्य काम करते हैं। लोहे के कारखाने का वर्णन ही क्या करना ? शक्कर बनाने के कारखाने का काम

(४) वैश्यों ने शिल्पों का काम तो हजारों वर्षों से शूद्रों को सौंप रक्खा है और उनमें से किसी ने शिल्प का कोई काम अपने हाथ में रक्खा भी है तो वह बिरादरी से बाहर कर दिया गया है*।

---

* विलायती वस्तु मात्र इसके दृष्टान्त हैं। कलम से मोटरगाड़ी और मोटर हल तक देख लीजिये।

/ इसमें अकेले वैश्यों का ही दोष नहीं है परन्तु पराधीनता एवं अन्यान्य कारण भी इस के लिये उत्तरदायी हैं।

* जिन सुनारों को जनेऊ होता है उनको यहां द्विज वर्ण (वैश्य) माना गया है।

युरोप अमेरिका के—

बहुत ही सरल है तथापि उनका वर्णन पढ़ने से हम लोगों की बुद्धि दंग हो जाती है कि ऐसे बृहत कारखाने के काम चलानेवाले की मस्तिष्क-शक्ति कैसी तेज़ है! ऐसे कारखानों में सवेरे से सन्ध्या तक हज़ारों टन (२७ मन १० सेर का एक टन) गन्ने खेतों से कटवाकर सैकड़ों टन शक्कर बोरेबन्दी करवा कर जहाज़ों में लदवा दी जाती है।

इस प्रकार कलाकौशल से पाश्चात्य देशों के वैश्यों जो वस्तु उत्पन्न करते हैं वे भारत की हस्त कौशल से उत्पन्न वस्तुओंसे सस्ती होने के कारण वाणिज्य व्यापार में उन्हें कम मूल्य पर बेच कर इन देशों के शिल्पों को नष्ट करने में समर्थ एवं अपने देश की उन्नति तथा स्वयम् धनशाली होने में सफल हो रहे हैं/।

भारतवर्ष के—

यहां के शिल्पी अपने घर ही में शिल्प का काम करते थे। कारखाने, काम करने वाले सैकड़ों मज़दूर और लिखने वाले क्लार्कों का दफ्तर ये तो यहां के वैश्यों को स्वप्न में भी न दीख पड़े होंगे*।

शिक्षाश्रेणीवालों ने तो 'शूद्रों के लिये शिक्षा की आवश्यकता नहीं' ऐसा सिद्धान्त कर लिया था, अतः बिचारे शिल्प-जीवी मूर्ख शूद्र कहां तक वैश्यों के सौंपे हुए शिल्पों की रक्षा कर सकते थे? विदेशियों की टक्कर से उनका सब शिल्प चकनाचूर हो गया। निज के रोज़गार के न रहने से शिल्पियों को पेट पालने के लिये सिवाय मज़दूरी के और कोई उपाय न रह गया। और इस धक्के से श्रमजीवियों को भिक्षाजीवि होना पड़ा।

यहां के वैश्यों ने अपने हाथ में केवल वाणिज्य व्यापार रक्खा था, और जब तक वैदेशिक शिल्पों की टक्कर इस देश के शिल्पों में न लगी थी तबतक उनका भी वह ज़माना था कि वे

/ भारतीय शासन पद्धति के अबाध वाणिज्य का नियम इनको इस काम में सहायता पहुंचा रहा है।

* जो जो शिल्प कर्म घर घर हो सकते हैं उनके लिये कारखाना खोलना शिल्पियों को मज़दूर बनाना है। हां, शिल्पियों को आपस में मिलकर कारखाना खोलना चाहिये। पुराकाल में ऐसा होता था।

युरोप अमेरिका के—

(५) वैश्य भी आपस में शिल्प-वाणिज्य के सम्बन्ध में प्रतिद्वंद्विता करते हैं; परन्तु उसका ढंग इस प्रकार हैं कि यदि कोई गन्ने से शक्कर बना कर रुपये में ५ सेर बेचता है तो दूसरा 'बीट' मूल (गाजर) से शक्कर बना कर ६ सेर की बेचता है, तो तीसरा रसायन शास्त्र के बल से अलकतरा (Coaltar डामर) से ऐसा एक तत्व निकालता है जिसकी एक बोतल,

भारतवर्ष के—

अपना शिल्प जात द्रव्य यूरोप को पहुंचाया करते थे। अब तो वे खुद विदेशी माल के कमिशन एजेन्ट और सट्टेदार हो गये हैं।

कुछ वर्षों से अब इन में चेतना आ रही है और परस्पर मिल कर बड़े बड़े (युरोप, अमेरिकादि के मुकाबिले में छोटे छोटे) कारखाने खोलने लगे हैं जिनसे कि श्रमजीवी और मशीजीवियों की जीविका लगचली है। परन्तु पारस्परिक विश्वास और कला-विद्या एवं उचित वैज्ञानिक शिक्षा के अभाव से ऐसे उद्योग प्रबल नहीं होने पाते हैं। इन अभावों का दूर होना गीता की निष्काम धर्म शिक्षा और जातीय शिक्षा एवं प्रचलित शिक्षा तंत्र के सुधार पर निर्भर है।

(५) वैश्य भी आपस में प्रतिद्वंदिता करना जानते हैं, परन्तु इनकी प्रथा भिन्न प्रकार की है। यदि यह देखा गया कि सेठ रामदास घी के व्यापार में लखपति हो गया तो सेठ श्यामदास भी घी के रोजगार में कूद पड़ेंगे; उनसे यह कदापि न होगा कि गोशाला (डेयरी) खोल कर, घी उत्पन्न करें और सेठ रामदास से सस्ता बेचें। किसी नया रोजगार के खोलने

टाटा कंपनी के, जिसने भारत का मुखोज्वल किया है, लोहे के कारखाने को छोड़कर।

युरोप अमेरिका के—

मिठास में एक बोरा शक्कर के समान होती है और मूल्य भी शक्कर से सस्ता रहता है।

(६) वैश्यों के कारखानों के मारे उनके समाज के अधिक संख्यक मनुष्य मजदूर (Mill hands) बन रहे हैं। इस कारण उनकी समाज की वैसी उन्नति, जिसको कि हम आदर्श मानते हैं नहीं हो रही है। उनकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पड़ रही है। क्योंकि कारखाना-सम्बन्धी मज-दूरी-पेशा भी दास्यता की नाईं मनुष्य के आत्म गौरव और सन्मान को घटानेवाला है। यद्यपि पाश्चात्य देशों में जाति विचार नहीं है तथापि गरीब अमीर में वैसा ही पार्थक्य का विचार है जैसा हमारे यहां ऊंच-नीच का भेद है। जबतक ये लोग गीता की शिक्षा प्राप्त कर व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग करके पोषण कार्य के लिये कला कौशल के अनुचित विस्तार को न रोकेंगे और अपने देश के श्रमजीवियों को शिल्प का काम अपने अपने घर में स्वतौर रोज-गार के करने के लिये न सौंपेंगे तब तक इनके समाज की भी पूर्ण आध्या-त्मिक उन्नति न हो सकेगी और न समाज के सब मनुष्य सुखी होंगे।

भारतवर्ष के—

में इनको साहस नहीं होता क्योंकि विद्या की चर्चा के अभाव में इन में आवश्यक ज्ञान का अभाव रहता है

(६) वैश्य भी जब तक गीता की शिक्षा के अनुसार स्वार्थत्यागी होकर अपने देश के शिल्प के उद्धार के लिये विद्या का आदरण और धन का सम्यक् उपयोग न करेंगे तब तक ये भी धर्म न कमा सकेंगे और न भारतीय आर्य जाति की ही उन्नति होगी। देश के शिल्प कर्म पुनरुज्जीवित होने से उसकी उन्नति के साथ साथ व्यवसाय वाणिज्य की वृद्धि के कारण इनको भी धनागम अधिकतर होगा। यदि इन्होंने समय रहते श्रीगीता की शिक्षा लेने में अव-हेलना की और कहीं इनके हाथ से कमीशन एजेन्टी और सट्टेदारी का (विलायती सामान के व्यवसाय का) काम भी छिन गया तो—विधाता भारत को उस परिणाम से बचावे। दरिद्र-ता आध्यात्मिक उन्नति का भयंकर बा-धक है दरिद्रता ही के कारण हममें आध्या-त्मिक अवनति उपस्थित हुई है। इस समय अब अन्न ४।५ सेर का बिक रहा है यदि लोगों की जीविका के लिय यथेष्ट उपाय न रहेंगे तब पेट की चिन्तारिन में आध्यात्मिक विचार की जड़ तक जल कर भस्म हो जायगी। भारत में दरिद्रता रूपी व्याधि जैसी उत्कट है उसकी दवाई भी वैसी ही सहस्र गुण

भारतवर्ष के—

की मात्रा है। उस मात्रा का नाम है "सार्वजनिक स्वार्थत्यागातासीम परिश्रमश्च" जिसके बनाने में प्रत्येक स्त्री पुरुष को, चाहे वे धनिक हों वा गरीब, इतना स्वार्थत्याग और श्रम करना पड़ेगा कि जिसकी सीमा नहीं है। और इनदोनों बातों के कष्ट और अवसाद से बचने के लिए और उत्साह कोसमान भाव से बनाये रखने के लिये इन सभी को श्री गीता समुद्रसे निकाला हुआ अमृत का पान करना पड़ेगा।

इस काल में सभी सभ्य देश के राजा लोग प्रजा के अनुमोदन से राज्य का प्रबन्ध करते हैं। रक्षा, शिक्षा, शासन और पालन, याने जितनी बातें समाज की स्थिति और उन्नति के लिए आवश्यकहैं, सभी इस प्रबन्ध के अंतर्गत हैं। जल और स्थल सेना के द्वारा रक्षा; विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, और पाठशालाओं के द्वारा शिक्षा; न्यायालय और पुलिस विभाग के द्वारा शासन एवं कृषि, शिल्प और वाणिज्य विभागों द्वारा पालन का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य प्रबंध सम्बन्धी कार्य को 'पबलिक सरविस' याने समाज-सेवा कहते हैं। किन्तु राज्य प्रबंध में काम करने वाले राजा और उच्चतम कर्मचारियों में कदाचित् ही कोई सरल अन्तःकरण से अपने को 'समाज का सेवक' समझता है यद्यपि पत्र-व्यवहार में उनको "आपका अति विनीत सेवक" ऐसा समाज के सभी मनुष्यों को लिखना पड़ता है। परन्तु वे अपने को समाज का रक्षक, शिक्षक, शासक और पालक समझते हैं। राज्य-प्रबंध में जो निम्न कर्मचारी गण हैं उनमें अधिकांश अपने को मनही मन समाज का प्रभू समझते हैं, परन्तु उच्च कर्मचारियों के भय से जहांतक बन पड़ता है प्रभुता दिखाने से अपने को रोकते हैं।

राज जीवी वा शासक

राजा लोग अपने को अपने अपने देश का सत्वाधिकारी समझते हैं, और उनका अधिकांश परिश्रम उस सत्वाधिकार के संरक्षण के लिए होता है। वे इस बात को भूल गये हैं कि देश का प्रकृत सत्वाधिकारी समाज है जिसके प्रतिनिधि रूप से राजा देश का सत्वाधिकारी माना जाता है। जो राजा इस सत्य को भूला हुआ है

उसका राज्य-कार्य शासन (आदेश, आज्ञा, दण्ड और दमन) के रूप में, और यदि वह प्रजा वत्सल भी हुआ तो उसका राज्य-कार्य प्रजा के पालन और रक्षण के लिये होता हुआ भी समाज-सेवा वा निष्काम धर्माचरण में परिगणित होने नहीं पाता। उसकी गिन्ती सकाम धर्माचरण में होती है। सकाम धर्माचरण सम्बन्धी परिश्रम के आनुसङ्गिक जो मानसिक अवसाद है उससे उसका छुटकारा नहीं होता।

राज्य कार्य का स्वभाव ही ऐसा है कि स्वार्थ चिंता से रहित होकर भी इसके निर्वाह में केवल परार्थचिन्ता ही का बोझ इतना भारी है कि राजाओं के लिये मन की शान्ति एक असम्भव बात सी जान पड़ती है। यही कारण होगा कि पूर्व काल में, जब और जहां के राज-प्रबन्ध में प्रजा का मत नहीं लिया जाता था (राजतंत्र, absolute monarchy थी) बहुधा राजा लोग कठिन मानसिक परिश्रम से बचने के लिए मंत्रियों पर राज काज का भार देकर निश्चिन्त हो जाया करते थे। राजा के कर्त्तव्य की ऐसी अवहेलना से बहुधा प्रजा को दुःख भोगना पड़ता था और भोगना पड़ता है।

परन्तु जो राजा अपने को प्रजा का प्रतिनिधि एवं सेवक समझकर राज्य का प्रबन्ध करने में तत्पर रहता है उस राजा के लिए धर्म अर्थ और काम की योजना स्पष्ट है। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान कथित मोक्ष (मरने के बाद मुक्ति नहीं किंतु जीवन-मुक्ति की अवस्था) राजाओं को प्राप्त होना कैसे सम्भव हो सकता है यह बात भगवान के गीतोक्त उपदेशों से जानी जायगी। राजा जनक की मुक्तावस्था की उपमा महाभारत और गीता में प्रसिद्ध ही है। उपयुक्त अवसर पर गीतानुशीलन में भी इस पर पूरा विचार किया जायगा। राज कर्मचारियों की श्रेणी में बहुतेरे उच्चपदस्थ कर्मचारी केवल सम्मान के लिए, और निम्नपदस्थ कर्मचारी जीविका के लिये राज्य प्रबन्ध में काम करते हैं। प्रजारूपी समाज से राजा को करके रूप में जो द्रव्य मिलता है उसीसे इन सब की जीविका का निर्वाह होता है। अतएव इस श्रेणी के समाज सेवकों का भी स्वार्थ, सम्मान और जीविका ही है। यह स्वार्थ जब जिसमें मर्य्यादातिरिक्त (उचित मात्रा से अधिक) होता है- याने उच्चकर्मचारी सम्मान के पीछे जब समाज पर प्रभुता दिखाने लग जाते और निम्नकर्मचारी जब अपने उस समाज को भूल जाते हैं जिसके दिये हुए द्रव्य (कर) से उनको तनखाह मिलती है-तभी उनके कर्त्तव्य में अवहेलना होने लगती है। अतएव स्वार्थ और अज्ञानता के बदले जबतक इन के हृदय में समाज का ज्ञान और उसके लिए प्रेम भाव और सेव्य भावना का उदय न होगा तब तक इनके कर्त्तव्य में अवहेलना होने की सम्भावना

बनी रहेगी । प्रेम और सेवा की भावनाओं का उदय श्री गीता के उपदेशों के ग्रहण से ही हो सकता है ।

इन में जो लोग अपने को समाज का सेवक जानकर समाज की सेवा कर्त्तव्य के अनुरोध से ठीक ठीक करते हैं उनसे समाज के लोगों को सुख तो होता है सही, परन्तु केवल कर्त्तव्य ज्ञान स्वाभावतः निरस होने से ऐसे कर्त्तव्य परायण समाज सेवकों के मनमें भी अवसाद उत्पन्न होने की ओर उससे कर्त्तव्य में अवहेलना होने की सम्भावना बनी रहती है । अतएव श्रीगीता के दार्शनिकतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना इनके लिए भी आवश्यक है, जिससे कि इनका कर्त्तव्य—ज्ञान प्रेम की भावना से सरस हो जाय ।

पाश्चात्य देशों के ग.जनीति

पाश्चात्य सभ्य देशों में शिक्षा के दो अंग हैं—एक धार्मिक शिक्षा (Religions teaching) और दूसरा व्यवहारिक शिक्षा । इन देशों की धार्मिक शिक्षा के देने वालों को हम लोग पादरी कहते हैं, सम्भवत: यह शब्द पोर्टुगीस भाषा से निकला होगा । इस शब्द का अर्थ बाबाजी होता है । पादरी लोग साम्प्रदायिक धर्म ग्रन्थों का उपदेशक हैं ।

पादरी लोग निज समाज के पुरोहित हैं । उपासना मन्दिरों (गिर्जाघर) में ये प्रति रविवार को पुरोहित का कार्य्य करते हैं याने उपासना में अपने यजमानों की सहायता करते हैं । यजमानों के यहां जन्म, विवाह और मृत्यु की घटनाओं में संस्कार क्रिया करते हैं । एक एक मुहल्ला वा गांव एक एक पादरी के जिम्मे रहता है । और वहां के निवासी उसी पादरी के यजमान होते हैं । गरीब यजमानों की बीमारी में पादरी लोग उनकी शुश्रुषा करते हैं । पादरी लोग सचमुच 'पुरोहित' नाम को सार्थक करते हैं । ये अपने यजमान और समाज के हितकारी हैं । पादरियों की जीविका उनके यजमानों के दान से और राष्ट्र-निर्द्धारित वृत्तियों से चलती है । ये लोग धार्मिक शिक्षा द्वारा समाज-सेवा रूप स्वकर्म में निरत रहते हैं, अतः इन्हें धर्म-अर्थ और काम की प्राप्ति होती है । परन्तु ये मनुष्यों को मनुष्य समझकर दया की भावना से उनके उपकार करने में लगे हुए हैं । सुतरां इन में सेवा की भावना का अभाव है । सेवा भावना की प्राप्ति के एवं जीवन मुक्ति अथवा निर्वाण-मुक्ति के लिये इनको भी गीतोक्त निष्काम-कर्म की शिक्षा एवं ब्रह्म ज्ञान की आवश्यकता है ।

पाश्चात्य सभ्य देशों में व्यवहारिक शिक्षा स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों में दी जाती है। इन सब विद्यालयों का प्रबन्ध राष्ट्र की ओर से हुआ करता है। विद्वान पादरी तथा अन्य अन्य विद्वान लोग इन विद्यालयों में शिक्षा-कार्य्य में नियुक्त रहते हैं। शिक्षण कार्य के लिये शिक्षकगण वेतन पाते हैं। जिससे उनकी जीविका का निर्वाह होता है। विश्वविद्यालय के अध्यापक प्रकृति के गुणों के अनुसंधान में लगे रहते हैं। इस तरह दिनों दिन नये नये विषयों के आविष्कार से नाना प्रकार की व्यवहारिक शिक्षा की उन्नति होती रहती है जिससे उनका देश उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होता जाता है।

जो विद्वान किसी विद्यालय के वेतन भुक्त शिक्षक नहीं हैं, पर वैज्ञानिक विषय के अनुसंधान के लिए किसी मण्डली वा समिति के सदस्य हैं, उनका व्ययभार समाज के धनी लोग एवं राष्ट्र वहन करते हैं। ये समितियां भी प्रकृति के नये नये रहस्यों का उद्घाटन कर के विज्ञान की उन्नति करती रहती हैं, जिससे सांसारिक कार्यों में सफलता होते हुए उनके निज देश धन तथा शक्ति का संचय करते जाते हैं।

इस तरह पाश्चात्य सभ्य समाजों की शिक्षा-श्रेणी के समाज-सेवकों के स्व-धर्म पालन के द्वारा उन देशों के अर्थ की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होती जाती है। परन्तु इन समाजों में ज्यों ज्यों अर्थ की उन्नति होती जाती है त्यों त्यों इनमें अयथा काम (भोग) लिप्सा बढ़ती जाती है। इन समाजों में यही एक कुलक्षण देख पड़ता है। यदि गीता के उपदेशानुसार ये अपनी काम-लिप्सा की मर्यादा बांध सकेंगे तो भावी संकट से बच जायेंगे।

यह संकट वैषयिक उन्नतिशील समाजों पर दो रूप से आक्रमण करता है। एक वैराग्य रूप से और दूसरा विग्रह रूप से। भारतीय आर्य जाति पर इस संकट का आक्रमण वैराग्य रूप से पांच हज़ार वर्ष पूर्व में हुआ था, जिसके आघात से आज दिन उसका जातीय जीवन निश्चेष्ट देख पड़ रहा है। वैराग्य रूप जो संकट है वह रज और तम गुणों के परस्पर प्रतिस्पर्द्धात्मक क्रियाओं का सहज फल है। किंतु इसमें सात्विक वृत्ति की प्राधान्यता के कारण मनुष्य का मन सत्वनिष्ठ रहता है। इस कारण ऐसा समाज तमोगुणाभिभूत अवस्था में सब तरह का क्लेश सह करके भी जीवित रहने में समर्थ होता है। और काल पाकर, अर्थात प्रकृति के नियम से जब तमोगुण हीन बल हो जाता है, तब ऐसे समाज की प्रच्छन्न रजोवृत्ति पुनः सत्वगुण की भूमिका पर प्रकाशमान हो जाती है--जैसा निद्रित जीव निद्रारूप आलस्य के दूर होने पर पुनः जागरित होता है।

विग्रह रूप जो संकट हैं वह रज और तमगुणों की परस्पर सहायक क्रियाओं का अन्यथा परिणाम है, जिसमें सत्वगुण क्षीण और अहंकार प्रबल रहता है। इसके कारण मनुष्य का मन लोभ, क्रोधादि वृत्तियों में अभिमानी हो जाता है, जिस कारण से काम लिप्सु उन्नत समाजों के बीच विग्रह उपस्थित होता है--मानों इनके रजोगुण अहंकार प्रधान तमोगुण की भूमिका पर खड़ा होकर परस्पर लड़ने लगते हैं।

वैराग्य और विग्रह नाम सामाजिक संकटों का रूपक वर्णन यों हो सकता है कि--वैराग्य में एक ही समाज के रज और तम गुण, सत्व गुण को साक्षी मान कर कुश्ती लड़ते हैं; जिस में रजोगुण के हारने पर तमोगुण सत्वगुण को आलिंगन करता है—इसके दृष्टान्त मेरे साधू सन्यासी भाई हैं। विग्रह में दो भिन्न समाज के रजोगुण, अहंकार प्रधान तमोगुण को साक्षी मान कर, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्यादि अस्त्रों की सहायता से परस्पर संग्राम करते हैं, और एक के हारने पर दूसरे जितनेवाला अहंकार को जा आलिंगन करता है—इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त* मित्रराष्ट्र हैं जो पृथ्वी व्यापी महा समर में जर्मनी को जीतकर अहंकारी हो गये हैं। हारा हुआ रजोगुण क्रोध एवं वैरभाव में परिणत होकर वह भी तमोगुण से जा मिला है। इस प्रकार दोनों समाजों में तमोगुण ही प्रबल हो जाता है। तमोगुण का फल अवनति तथा ध्वंश अवश्यम्भावि है।*

विग्रह के कारण दो भिन्न समाजों में जो लड़ाई होती है उसका परिणाम काम लिप्सु + विजित समाज के लिये बहुत बुरा होता है। जैसे छोटे पात्र का जल

* जब, निज सुख की चेष्टा से दूसरे का क्या अपकार होता है इसका विचार नहीं रहता तब रज और तमोगुण एक दूसरे का सहायक होकर क्रिया करता है। ऐसी क्रिया जब दो मनुष्यों में होती रहती है तब दोनों में लड़ाई होती है।

* पृथ्वी के मनुष्य जातियों का इतिहास में अनुसन्धान करने से ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे जिससे यह मालूम होगा कि जीतने वाले राष्ट्र के गर्व एवं पराजित स्वाधीन राष्ट्र के क्रोध एवं वैरभाव के कारण इन दोनों में पुनः पुनः युद्ध होकर दोनों की अवनति हुई है अथवा दोनों ध्वंश को प्राप्त हुए हैं।

+ जो राष्ट्र पराजित होकर विजेता राष्ट्र का अधीन हो जाता है यदि उसमें शारीरिक सुख भोग की इच्छा प्रबल रही और उसे विजेता राष्ट्र की अधीनता में सुख मिला तो वह विजेता राष्ट्र के आचार व्यवहार का अनुकरण करता हुआ अपना व्यक्तित्व खोकर विजेता राष्ट्र में मिल जाता है।

बड़े पात्र के जल में गिरकर अपना आकार खो देता है, वैसे ही विजेता समाज की अधीनता में काम लिप्सु विजित समाज का रजोगुण (जिससे काम लिप्सा उत्पन्न होती है) विजेता समाज के रजोगुण में लय होकर अपना व्यक्तित्व खो देता है। इस तरह के विग्रह रूप संकट से आक्रान्त होकर इस पृथ्वी पर न जाने कितने बड़े बड़े उन्नत समाज नष्ट हो चुके हैं।

अतएव, वैराग्य और विग्रह रूप उभय संकटों से उन्नत समाजों के बचे रहने का एक मात्र उपाय श्रीकृष्ण भगवान प्रचारित निष्काम धर्माचरण ही है।

गणेश—आपने "रज और तम गुणों के परस्पर प्रतिस्पर्द्धात्मक क्रियाओं का सहज फल (वैराग्य) है" ऐसा जो पद कहा वह मेरी समझ में नहीं आया। यदि अवसर हो तो उसे समझा दीजिये।

मायानन्द—यह विषय मनोविज्ञान का है। सृष्टि तत्त्व की मुख्य मुख्य बातों को जान लेने के अनन्तर मनोविज्ञान वा मनस्तत्त्व के अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों के विज्ञान के अनुशीलन का अवसर आता है। अभी इस विषय की आलोचना में प्रवृत्त होने से प्रस्तुत विषय (समाजतत्त्व) दूर हो जायगा। इस कारण हम यहां इस विषय की चर्चा न करेंगे। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर पूर्ण रूप से देने का अवसर बन्धन और मोक्ष के विषय पर विचार करने के समय आवेगा। अभी हम को उपस्थित विषय को पूर्ण करने की शीघ्रता पड़ी है।

भारत वर्ष के शास्त्रजीवि।

पाश्चात्य देशों में परलोक सम्बन्धी शिक्षा को धार्मिक शिक्षा और इहलोक सम्बन्धी शिक्षा को व्यवहारिक शिक्षा कहते हैं, और ये एक दूसरे से भिन्न मानी जाती हैं। परन्तु भारतीय आर्यजाति में ये दोनों शिक्षायें एक ही धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत मानी गई हैं। अतएव, जैसा पीछे कह आये हैं कि भारतीय शास्त्रजीवी विशेष कर ब्राह्मण होते थे और उनका प्रधान कार्य्य होता था शिक्षा देना। इस स्वकर्म के अनुसार वैदिक काल में आचार्य ब्राह्मणगण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बालकों को पात्रानुसार यथा-योग्य दोनों तरह की शिक्षा देते थे एवं गृहस्थों के पारलौकिक श्रेय के लिये यज्ञ और संस्कारादि क्रिया भी कराते थे। ऐसी क्रियायें याजन नाम से प्रसिद्ध हैं। विद्यार्थीयों एवं गृहस्थ यजमानों से, अपने परिश्रम के लिये दक्षिणा के नाम से जो द्रव्य मिलता था उसी से उनका जीवन निर्वाह होता था। इन कर्मों के अतिरिक्त,

समाज की उन्नति कारक वैज्ञानिक आविष्कार तथा आध्यात्मिक विद्या की उन्नति और प्रचार के लिये अभिषिक्त राजा से (याने अपने समाज का जो राजा समाज द्वारा रक्षक नियुक्त हुआ हो उससे) आवश्यक अर्थ का दान इनको मिलता था। उन दिनों इन की साधारण पदवी मुनी, ऋषि आदि थी।

उन दिनों शास्त्रजीवी ब्राह्मणों के ६ कर्म निर्धारित थे जिनमें यज्ञादि किया करना, दान देना, और पढ़ना, उनके अपने पारलौकिक श्रेय के लिये; और यज्ञादि क्रियाओं का गृहस्थों से कराना, विद्यार्थियों को पढ़ाना, और प्रतिग्रह करना (दान-लेना), ये कर्म समाज तथा यजमानों के इहलौकिक तथा पारलौकिक हित के लिये एवं अपने पोषण के लिये थे। इन ६ कर्मों में से दान देना और पढ़ना क्या शास्त्र-जीवी और क्या आप-मजीवी* सभी ब्राह्मणों के लिये कर्तव्य कर्म थे। और प्रतिग्रह करने का अधिकार केवल उन शास्त्रजीवी ब्राह्मणों को था जो ब्रह्मचर्याश्रम के आचार्य या वैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक विद्या के प्रचारक थे। आपत्काल में ब्राह्मण आपद्धर्म के नियमानुसार (जिसका वर्णन 'आश्रम' पर विचार करते समय करेंगे) अपनी जीविका निर्वाह करता था, वह आपत् काल के बीतने पर पुनः स्वकर्म में लग जाता था चाहे उसमें उसकी जीविका का निर्वाह भलीभांति न होता हो।

वर्तमान काल में ब्राह्मण जीविका के लिये चारों वर्णों के कर्मों को करते हुए देखे जाते हैं, जिनमें कदाचित् एक अंश ब्राह्मणोचित स्वकर्म में नियुक्त हैं और शेष तीन अंश क्षत्री, वैश्य शूद्रोचित भिन्न भिन्न कर्मों के द्वारा जीविकार्जन करते हैं। एक अंश जो ब्राह्मणोचित स्वकर्म में नियुक्त है उसका विभाग तीन श्रेणियों में हो सकता है, यथा पुरोहित, शिक्षक और न्यायाध्यक्ष के विचारक। निष्काम धर्माचरण के लिये गीता की शिक्षा का प्रयोजन इनको भी वैसा ही है जैसा और सब को है।

इन स्वकर्म निरत और विरत ब्राह्मणों में पूर्वोक्त ६ कर्मों के चिन्ह वर्तमान हैं परन्तु अब उनका रूप भिन्न प्रकार का हो गया है। वह इस प्रकार है कि—

पुरोहित—(१) घर में वा मन्दिरों में ठाकुर की सेवा करना; (२) इच्छा हो तो दान देना; (३) कुछ ज्योतिष, कुछ दर्शन, कुछ पुराण,

* जब कोई ब्राह्मण आपत्काल में स्वकर्मों के द्वारा जीविका न करके अन्य वर्ण के कर्मों के द्वारा जीविका करता है तब वह आपद्धर्मजीवी कहाता है।

कुछ व्याकरण, कुछ स्मृति और इच्छा हुई तो कुछ वेद पढ़ना; (४) मन्दिरों में पुजारी या पण्डागिरी करना, गृहस्थों से बुलाये जाने पर व्रत, पूजा और संस्कार्य क्रियादि कर देना; (५) पढ़ने के लिये विद्यार्थी आजाय तो पढ़ा देना, और पुराण के सुनने वाले मिल जायें तो उसका पाठ करना; (६) प्रतिग्रह के लिये सदा सोत्सुक रहना और अधिकार हो वा न हो अवसर पर दान लेलेना।

शिक्षक—उपरोक्त नं १ और २ के कर्म यथेच्छानुसार; वर्तमान काल में सुयोग और योग्यता के अनुसार विद्या पढ़ना; उपरोक्त नं ४ के कर्म द्वारा जीविका न करना; (५) पाठशाला, स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों को पढ़ाना; (६) प्रतिग्रह करना न करना अपनी इच्छानुसार।

विचारक—नं० १ और २ यथेच्छानुसार; (३) व्यवहार शास्त्र (कानून) पढ़ना; नं० ४ से जीविका न करना; (५) न्यायालयों में विचारक का काम अथवा वकालत करना; (६) प्रतिग्रह न करना।

ब्राह्मण वर्ण के शेष तीन अंश जो और वर्णों की वृत्ति से जीविका निर्वाह करते हैं उनमें जो षट्कर्म पाये जाते हैं और जिनको वे "खटकरम" कहते हैं, वे ये हैं—प्रातःकालिक शौचादि क्रिया, जिसका प्रधान अंग मुखारी है, (२) स्नान; (३) तिलक; (४) पूजा; पाठ; (५) जप। इन "खटकर्मों" के एक से भी इनकी जीविका का कोई संबन्ध नहीं है।

वर्त्तमान काल के ब्राह्मण वर्ण के उपरोक्त चार श्रेणियों में केवल पुरोहित श्रेणी को छोड़ कर शेष तीनों श्रेणी के जीविका पथ जैसे विस्तृत है वैसा ही उनमें और वर्णों की प्रतिद्वन्द्विता रूप विघ्न भी हैं। पुरोहित श्रेणी की जीविका के पथ में अन्य वर्णों का पदार्पण करने का अधिकार न रहने से वह निर्विघ्न है तथापि वह पथ दिनोंदिन संकीर्ण होता जाता है।

जीविका-पथों का विस्तीर्ण और संकीर्ण होना तत् पथ सम्बन्धी विषयों की मांग और पूर्ति पर निर्भर है। दृष्टान्त (१) १०० स्कूलों में ५०० शिक्षकों की मांग है परन्तु शिक्षण कार्यक्षम मनुष्य केवल ३०० हैं, इस अवस्था में शिक्षा द्वारा जीविकार्जन करने का पथ शिक्षकों के लिये विस्तृत है। (२) १०० स्कूलों में ५०० शिक्षकों की मांग है जिसे पूरी करने के लिये ६०० शिक्षण कार्यक्षम मनुष्य उपस्थित हैं; इस

अवस्था में शिक्षा द्वारा जीविकार्जन करने का पथ शिक्षकों के लिये संकीर्ण है; क्योंकि अतिरिक्त १०० शिक्षण कार्यक्षम मनुष्यों की जीविका उपस्थित १०० स्कूलों से नहीं चल सकती। इस दृष्टांत में मांग की संख्या से पूर्ति की संख्या १०० अधिक हो गई। अब ये १०० मनुष्य उन ५०० के प्रतिद्वन्दी समझे जायेंगे, जिनके कारण ६०० को ही शिक्षण रूप जीविका पथ संकीर्ण जान पड़ने लगेगा।

उपरोक्त दृष्टान्त क्या पुरोहित श्रेणी को लागू हो सकता है? मेरे विचार में प्रतिद्वंद्विता का दृष्टान्त इन पर लागू नहीं हो सकता। क्योंकि भारतीय आर्य जाति में जब से वर्ण व्यवस्था प्रचलित हुई है तब से सिवाय एक क्षत्रियनन्दन विश्वामित्र के और किसी ने इनकी याजकवृत्ति में प्रतिद्वन्द्विता न की। इस काल में भी इनका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं दिख पड़ता और भविष्य में होने की सम्भावना नहीं।

यद्यपि जीविका-पथ से प्रतिद्वन्द्विता को दूर रखने के लिये ही भारतवर्ष में जीविकार्जनी वृत्तियां जाति वाचक हो गई हैं और जाति भेद प्रचलित हो गया है, तथापि अन्यवर्णों में अन्तर्देशीय और बहिर्देशीय प्रतिद्वन्द्विता बहुत दिनों से आरम्भ हो गई है और उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है। किन्तु ब्राह्मण वर्ण की वृत्ति में प्रत्यक्ष कोई प्रतिद्वंद्विता उपस्थित नहीं हुई है; हां, ब्राह्मणवर्ण अन्य वर्णों की जीविका में प्रतिद्वन्दी होते आये हैं और होते चले जाते हैं। जब ब्राह्मण वर्ण में से ही तीन भाग अन्य वर्णों की जीविका में चले गये एवं शेष एक भाग में से २ अंश ने शिक्षण और विचारक वृत्ति ग्रहण की तब सौ पीछे ९६ अर्थात २१ ब्राह्मण + २५ क्षत्रि + २५ वैश्य + २५ शूद्र, मन्वादि ऋषि प्रदर्शित श्रौत और स्मार्त्त धर्मानुसार चलनेवाले यजमानों के रहते हुए भी पुरोहित श्रेणी के ब्राह्मणों का जिनकी संख्या सौ पीछे ४ होती है, जीविका पथ क्यों संकीर्ण हो गया यह एक बड़े रहस्य की बात है। यदि मांग से पूर्ति (supply) अधिक होती, जैसी कि दफ्तरों में नौकरी और मशीजीवियों की दशा है, तो यह कोई विचारणीय समस्या की बात न थी। परन्तु यहां मांग अधिक है, क्यों सनातन धर्मावलम्बिमात्र को पुरोहितों की आवश्यकता है और पुरोहितों की संख्या भी कम है, तथापि ब्राह्मण पुरोहिताई वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्तियों में जाते हुए देखे जाते हैं! पुरोहित श्रेणी स्वयम् यह कहा करती है कि हमारी जीविका 'आकाशवृत्ति' है!! इनके इस कथन से यही ज्ञात होता है कि इनकी यथेष्ट मांग नहीं है। इनकी मांग न रहना और भारतीय आर्य जाति का अथवा सनातन धर्म का लोप होना एक ही बात है।

इधर सनातन धर्मावलम्बी गृहस्थोंको किसी पर्वके दिन पूजाके लिये पुरोहितकी बाट जोहते देखकर यही समझना पड़ता है कि, पुरोहितोंकी ही संख्या कम है। मेरी समझमें पूर्तिके हिसाबसे मांग तो नहीं घटी, किन्तु श्रौत और स्मार्त कर्मोंकी संख्याके हिसाबसे दक्षिणा अवश्य घट गई है। अतएव यजमान-संख्या अधिक होनेसे ही क्या होता है, यजमानकी कर्म-प्रवृत्ति और दान शक्ति क्या है सो भी तो देखना चाहिये। वैदेशिक शिक्षाके कारण यजमानोंमें कर्मप्रवृत्ति, और दरिद्रताके कारण उनकी दानशक्ति, घट गई है।

पृथ्वीके विभिन्न सभ्य देशोंके आय-व्ययके लेखेसे यह बात प्रसिद्ध हो चुकी है कि भारतवर्ष अतीव दरिद्र देश है। और इस बातमें भी मत-विरोध नहीं है कि, पूर्व कालमें भारतवर्ष तत्कालीन सभ्य देशोंमें सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली और उन्नत था। किसी समाजकी उन्नति और अवनतिके कारणोंका अनुसन्धान करनेसे यही जाना जाता है कि, शिक्षाके प्रभाव और अभाव ही सर्वत्र उन्नति और अवनतिके कारण होते आये हैं। अतएव शिक्षाके प्रभावसे भारतवर्ष पूर्व कालमें ऐश्वर्यशाली हुआ था एवं शिक्षाकी अवनतिसे अथवा विपरीत शिक्षाके फलसे भारतवर्ष इस समय दरिद्र हुआ है।

समाज तत्व पर विचार करते हुए हम पीछे कह आये हैं कि, भारतीय आर्य समाजमें समाज-शिक्षाका भार ब्राह्मण वर्ण पर ही निर्भर था। अतएव ब्राह्मणवर्णका स्वकर्म जो समाज-शिक्षा थी उसमें उनकी ओर से अवहेलना होने से ही भारतीय आर्य जाति निर्वीर्य और दरिद्र हो गई है, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्वार्थपरतासे कर्त्तव्यमें अवहेलना होनी कोई विचित्र बात नहीं है, यह तो स्वाभाविक ही है। परन्तु समाज-तत्व एवं समाज-सेवाके ज्ञानके लोपसे इनमें जो कर्त्तव्य कर्मोंकी अवहेलना उत्पन्न हो गयी है, और जिसके कारण ये दिनोंदिन इच्छा न रहते हुए भी स्वार्थ-परायण हो रहे हैं, यही अत्यन्त खेदका विषय है। *

यदि इनमें समाज-सेवाके ज्ञानका लोप न हुआ होता तो श्रीभगवान के मुखारविन्दसे "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। यतः प्रवृत्ति र्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवाः।" यह जलद-गम्भीर घोषणा भी न निकली होती। भारतमें गीता-धर्मका प्रचार हुए यद्यपि ३५०० वा उससे भी अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके तथापि इस देशकी शिक्षा-श्रेणीके समाज सेवक गणों अर्थात् ब्राह्मणोंके, उस उपदेशको यथार्थ रीतिसे ग्रहण न करनेके कारण आज दिन इनकी जैसी व्यवस्था हो रही है उसका स्मरण करने से हृदय विदीर्ण होने लगता है!

* इस समय सं० १९८० में समाज-तत्व और समाज सेवा पर सुधारकोंका भी ध्यान आकर्षित हो रहा है

यह बात तो निश्चित ही है कि गीतोक्त धर्मके प्रचारके बहुत समय पूर्वसे ही समाज-सेवाके ज्ञानका लोप हो चुका था, तभी तो गीताधर्मके प्रचारका प्रयोजन हुआ; तथापि हमको इसका अनुसन्धान करना है कि, समाज-सेवाके ज्ञानका लोप कबसे और किस तरहसे होता चला आया है; अतएव अब हम आगे इसीका विचार करेंगे। हमारे इस विचारमें जहां कहीं ब्राह्मण शब्द आवे उससे पण्डित, पुरोहित और आचार्य्य श्रेणीको ही समझना चाहिये, ब्राह्मण मात्रको नहीं। क्योंकि पण्डित, पुरोहित और आचार्य्यकी श्रेणीको छोड़कर और किसी ब्राह्मणमें उसकी जीविका उसके ब्राह्मणत्वके लक्षणको सिद्ध नहीं करती, कारण कि वर्त्तमानमें वैसा लक्षण औरोंमें भी पाया जाता है। यथा—कोई ब्राह्मण, विचारक (जज्ज) अथवा शिक्षण कार्यसे जीविका निर्वाह करता है, तो क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र वर्ण के मनुष्य एवं अँग्रेज़ भी इन कर्मोंसे जीविका करते पाये जाते हैं। इस कारण ये कर्म अब ब्राह्मणत्वके ज्ञापक नहीं रहे। परन्तु भारतीय आर्य जातिमें सांस्कारिक क्रिया और याजक-वृत्ति तथा पुराणादि पाठके द्वारा जीविका करते हुए केवल पण्डित-पुरोहित श्रेणी ही पाई जाती है; इन कर्मोंके द्वारा और कोई वर्ण अपनी जीविका करते नहीं पाये जाते। अतएव ये कर्म इनके ब्राह्मणत्व के विशेष लक्षण हैं।



७ परिच्छेद।

भारतीय आर्यजातिमें समाज-सेवाके ज्ञानका लोप।

मायानन्द—अब हम ब्राह्मणोंके कर्त्तव्यकी त्रुटि तथा उनकी वर्त्तमान अवस्था पर विचार करेंगे। अतएव भारत तथा मनुष्य समाज मात्र के शिर-स्थानीय ब्राह्मण वर्णसे हमारी यह प्रार्थना है कि, इस विचार शृंखला में जो अप्रिय सत्योक्तियां हों उनके लिये वे हमें क्षमा करें, और अपनेको तथा अपने अनुयायी शेष तीन वर्णों को अवनति-कूपसे उद्धार करनेके लिये अपने सनातन कर्त्तव्यों पर विचार करें, और अपनी पूर्वकालिक ज्ञान ज्योतिके प्रकाशसे पृथ्वीकी अपर जातियोंको पुनः निष्काम धर्माचरणका मार्ग दिखा दें जिससे उनको, हमारी नाईं, भविष्यत्‌में अवनति रूपी गड्ढेमें न गिरना पड़े।

यदि हम भारतीय आर्य जातिके सामाजिक अभ्युदय और पतनका शृंखलाबद्ध इतिहास बतला सकते, तो उपस्थित विषय पर पूर्णतया विचार करना हमारे लिये सरल होता, परन्तु हम निरुपाय हैं। वेदों और पुराणोंकी भाषा आज दिन हमारे लिये पहेली हो रही है। तथापि जहां तक मुझ जैसे व्यक्तिके लिये साध्य है, इस विषयका दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न करता हूं।

ऋग्वेद अष्ट० १ अ० १ सं० १ अनु० ३ सू० ८ मंत्र ६।

ब्राह्मणोंके कर्त्तव्यकी त्रुटि पर वेदसे दृष्टान्त।

"अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः तुविद्युम्न यशस्वतः।"

अर्थ—हे सहस्रकांति इन्द्र! हमको ऐसा वैभव दीजिये कि जिससे हम धनोपार्जन करने में प्रवृत्त हों। हमारे हाथसे वे सच्चे प्रयत्न हों, जिनसे हमको यश मिले। (श्रुतिबोधसे संकलित)।

इस मंत्रमें समाजकी ओरसे परमात्मासे यह प्रार्थना की जाती है कि, हे परमात्मन्! हमको ऐसी मानसिक शक्ति दीजिये कि जिससे हम धन (राष्ट्रीय वैभव) उपार्जन करने में उत्साह सम्पन्न हों और बुद्धिपूर्वक उसका प्रयत्न करें।

ऋग्वेदके इस मंत्रसे यह जाना जाता है कि, वैदिक युगमें यज्ञादि कर्मोंका फल प्राप्त करना पौरुष सापेक्ष समझा जाता था और इसी लोकमें इच्छित फल-प्राप्तिकी आशा की जाती थी। अर्थात् जातीय उन्नतिके लिये उस जातिको उन्नतिकारक कर्म करने पड़ते थे, केवल तदुपयोगिनी बुद्धि और उत्साह प्राप्त करनेके लिये यज्ञमें परमात्मासे प्रार्थना की जाती थी।

परन्तु परवर्ती कालमें—सम्भवतः ब्राह्मण ‡ युगमें—यज्ञोंमें केवल प्रार्थनाको ही ब्राह्मणगण कर्म समझने लगे और फल प्राप्ति इस लोकमें दैवकी कृपासे होती है—यदि न हुई तो परलोकमें होगी—ऐसा मानने लग गये थे। महाभारतकी आलोचनासे यह जाना जाता है कि, महाभारतके रचयिता विद्वानोंने भी ब्राह्मणोंके ऐसे भ्रम पर आक्षेप किए हैं। इसका एक दृष्टान्त महाभारतके वनपर्वसे दिया जाता है।

महाभारतसे द्रौपदी-युधिष्ठिर संवादका दृष्टान्त। लौकिक अभ्युदयका कारण क्या है?

महाभारत वनपर्व अध्याय ३२—महाराज युधिष्ठिरके वनवास कालमें महरानी द्रौपदीजी महाराज युधिष्ठिरसे इस बात पर विचार करती हुई कि, पुण्यकार्य (सकाम यज्ञादि क्रिया) से लौकिक अभ्युदय होता है अथवा व्यवहारिक विद्या सम्बन्धी कर्मों से, और इसके समर्थनमें कि व्यवहारिक विद्या ही लौकिक अभ्युदयका कारण है, कहने लगीं—"कर्म कितने प्रकारके हैं इसकी गणना नहीं हो सकती। जितनी अट्टालिकायें और नगर बने हैं कर्म ही उनका कारण है। तथा तिल में तेल, गौ में दूध, एवं लकड़ी में आग है—बुद्धिमान् लोग अपनी बुद्धिके प्रभावसे इन बातोंको जानकर उक्त वस्तुओंके तैयार करने का उपाय निकालते हैं, और तब उन उपायोंके अनुसार कार्य करके अपना अपना प्रयोजन सिद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं।" यदि वर्त्तमान युगमें किसीको यही बात समझाना होता तो कहना पड़ता कि, पूजापाठके फलसे देश देशान्तरको अल्प समयमें आने जाने के साधनमें उन्नति नहीं हुई है, किन्तु वाष्प-बलमें चालक शक्ति है, और तूतिया, तामा, सीसा तथा जलके संयोगसे विद्युत्शक्ति उत्पन्न होती है, यह जानकर विद्वान लोगोंने उपायके द्वारा उसका उपयोग रेल और तार में करके, मनुष्य, माल और संवादके गमनागमनमें आश्चर्यजनक उन्नति की है।

समाज-सेवा ज्ञानके लोप पर महाभारत प्रणेताने वनपर्वके ३११ वें अध्यायमें यक्ष-युधिष्ठिर संवादमें प्रश्नोत्तर रूपसे कई एक ऐसी बातोंका उल्लेख किया है जिनका मुख्य तात्पर्य्य लोग भूल गये हैं और अन्य रूपसे उनको समझने लगे हैं—

महाभारतसे यक्ष-युधिष्ठिर संवादके दृष्टान्त।

यक्षने महाराज युधिष्ठिरसे पूछा—"ब्राह्मणोंमें देवभाव क्या है? उनका कौन धर्म साधु है?" युधिष्ठिर महाराजने उत्तर दिया—"स्वाध्याय ब्राह्मणोंका देवभाव है और तपस्या उनका साधुभाव है।"

---

‡ वेदोक्त यज्ञोंकी विधि जिन ग्रन्थोंमें सविस्तर वर्णित हुई हैं उन्हे 'ब्राह्मण' कहते हैं—उन्हीं रचनाका काल।

(१) ब्राह्मणों में देवभाव क्या है ?

अब हमको युधिष्ठिर महाराजके उत्तर पर विचार करना है। 'स्वाध्याय' शब्दका प्रचलित अर्थ है वेदाध्ययन, अर्थात् पुण्यके लिये धर्मग्रन्थोंका पाठ करना। और 'तपस्या' शब्दका अर्थ है इन्द्रिय संयम। परन्तु यहां युधिष्ठिरके कहनेका अभिप्राय यह है कि, जैसे देवता—(जीवोंके पोषण करनेवाली प्राकृतिक शक्तियाँ)* जीवोंका पोषण करते हैं, उसी तरह जो ब्राह्मण वेदज्ञानके (विज्ञानके) अनुशीलनसे समाजका पोषण कर सकता है उस ब्राह्मणके लिये उसका स्वाध्याय ही **देवभाव** है (अन्य जो ऐसा नहीं कर सकता केवल पाठमात्र करता है उसके लिये नहीं)। क्योंकि इस अनुशीलन रूप स्वाध्यायसे ही उसमें समाज-पोषण-शक्ति उत्पन्न होती है।

यदि कहो कि, धर्म ग्रन्थोंके अध्ययनसे सात्त्विकभाव की वृद्धि होती है इसलिये स्वाध्यायको देवभाव कहा गया है, तो उसका उत्तर यह है कि, ऐसा स्वाध्याय न केवल ब्राह्मणोंमें, परन्तु क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा सभी मनुष्योंमें देव-भाव उत्पन्न करनेवाला है। और ऐसी ही समझ लोगोंमें प्रचलित भी है। परन्तु यहाँ ब्राह्मण वर्णके कर्मको लक्ष्य करके प्रश्न हुआ है। इस कारण 'स्वाध्याय' का अर्थ वेद या धर्मग्रन्थोंका केवल अध्ययन ही नहीं माना जा सकता। क्योंकि वेदाध्ययन द्विजमात्र—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका और धर्म ग्रन्थोंका अध्ययन सभी मनुष्योंका, कर्त्तव्य कर्म है॥। हमने इस प्रश्नका जैसा आशय प्रकाश किया, यक्षके दूसरे एवं परवर्ती प्रश्नोंसे उसीका समर्थन होता है।

(२) क्षत्रियोंमें देवभाव क्या है ?

यक्षने पूछा—"क्षत्रियोंमें देवत्व क्या है ?" युधिष्ठिरने उत्तर दिया, "क्षत्रियोंमें अस्त्र-शस्त्र ही देवत्व है।" इस उत्तरका अर्थ यही हुआ कि, क्षत्रिय अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा ही समाजकी रक्षा करता है। यह समाज-रक्षा-कार्यही देवत्व है। इसी तरह यदि यक्षने पूछा होता कि वैश्यों और शूद्रोंमें देवत्व क्या है, तो महाराज युधिष्ठिरने यही उत्तर दिया होता कि वैश्योंमें "कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य" और शूद्रोंमें "शारीरिक श्रम" ही देवत्व है। अर्थात् इनके स्व स्व कर्म 'देवत्व' हैं न कि केवल सात्त्विक गुण।

यक्षने पूछा—"ब्राह्मणको दान देनेका प्रयोजन क्या है ?"
समाज और समाज-सेवाका ज्ञान न रखनेवालेको ऐसा प्रश्न बालकोचित

* गीता अ० ३ श्लो० ११ देखो।

॥ इसे शास्त्रकारोंने 'ऋषिऋण' कहा है।

समझ पड़ेगा। बालकही ऐसा प्रश्न कर सकता है अथवा बालकसे ही ऐसा प्रश्न किया जासकता है कि, भूखेको अन्न देनेका क्या प्रयोजन? परन्तु यक्षके इस प्रश्नका विषय गम्भीर था। इससे

(२) ब्राह्मणोंको दान देनेका प्रयोजन?

यह समझा जाता है कि, उस समयके लोग पारलौकिक कल्याणकी कामनासे ब्राम्हणोंको दान देते थे, जैसा कि इस समयके लोग भी करते हैं। यथार्थमें दरिद्र एवं अभावग्रस्तको दान देनेसे पुण्य होता है, परलोकमें कल्याण होता है। "ब्राम्हण" दरिद्रता वा अभावग्रस्तका ज्ञापक कोई योगरूढ़ि शब्द नहीं है। "ब्राम्हण" कहनेसे किसी दरिद्र व्यक्तिकी मूर्ति मनश्चक्षु पर उदित नहीं होती, जैसा कि "मंगना" शब्दके उच्चारणसे दरिद्र व्यक्तिका बोध होता है।

युधिष्ठिर महाराजने उत्तर दिया—"धर्मार्थ"-याने धर्मके लिये। युधिष्ठिरके इस उत्तरका अर्थ यह है कि, जब समाजकी इहलौकिक और पारलौकिक शिक्षा ब्राम्हणोंसे ही होती है, तब ब्राम्हणोंके भरण-पोषणमें जो अर्थका दान दिया जाता है वही दान "धर्मार्थ" है, याने समाजके हितके लिये है न कि दाताके पुण्यके लिये अथवा केवल गृहीताके निज हितके लिये है। इससे यही सिद्ध होता है कि, ब्राम्हणमात्र वर्णके नाम पर दान लेनेके अधिकारी नहीं है परन्तु जो ब्राम्हण पुरोहित हैं, ब्रम्हचर्याश्रमके आचार्य हैं, केवल वे ही दान लेनेके अधिकारी हैं +।

युधिष्ठिर महाराजके ऐसे सूत्रात्मक उत्तर, अर्थात् 'धर्मार्थ', पर यह शङ्का हो सकती है कि, भूखे को अन्न और दरिद्र को द्रव्यका दान देना क्या धर्माथ नहीं है? युधिष्ठिरके उत्तरके अनुसार वह धर्मार्थ नहीं है परन्तु पुण्यार्थ है। धर्म वहीहै जो समाजको धारण करता है। जिस कर्मसे व्यक्तिगत उपकार होता है वह पुण्य है † और समाजके सुखकी दृष्टिसे जो कर्म किया जाता है उसको दर्शनकार 'धर्म' कहते हैं। जीवके सुखकी दृष्टिसे जो कर्म किया जाता है उसको धर्म ग्रन्थों में "पुण्य" कहते हैं; परन्तु, जब जीव समष्टि ही समाज है तब धर्म और पुण्यमें कोई भेद नहीं हो सकता। तथापि व्यष्टि और समष्टिकी भावनाके अनुसार भेदकी कल्पना करनी पड़ती है। इस भेदका महत्व भी इस बात पर निर्भर है कि, जिस समय अपने देशको उन्नत करनेके लिये लोगोंमें धर्म कर्मोंके करने की आवश्यकता प्रतीत होती है, उस समय लोग केवल पुण्य कर्म करके ही अपना इति कर्त्तव्य न समझ लें।

+ बंगदेशमें इस समय "आचार्य-ब्राम्हण" अन्य ब्राम्हणोंसे हीन समझे जाते हैं। क्योंकि अब समाज-शिक्षासे इनका कोई संबंध नहीं है। ये स्वयं मूर्ख होते हैं। अतएव अनधिकार दान लेनेसे वे पतित समझे जाते हैं।

† पहला परिच्छेद पृ० १९ देखो।

यक्षने पूछा—"तपका लक्षण क्या है ?" याने तप किसको कहतेहैं ? युधिष्ठिरने उत्तर दिया—"स्वधर्मका अनुवर्त्तन करना ही तपस्या है।" याने स्व स्व कर्म करना ही तपस्या है। तपः का प्रचलित अर्थ है इन्द्रिय संयम। इन्द्रियोंका संयम मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य होने पर भी गीतामें (अ० १८ मं ४२ देखिये) तपः ब्राह्मणका कर्म कहा गया है। इससे ऐसा समझा जाता है कि, समाज के अगुआ ब्राह्मणवर्ण ही सर्व प्रथम स्वकर्म सकाम होकर करने लग गये थे। पुराणोंमें तपःका अर्थ 'जङ्गलमें शरीरको क्लेश देना' माना गया है—इसी भ्रमको दूर करने के लिए यक्षका यह प्रश्न हुआ है *।

(४) ब्राह्मणोंके साधुभाव और तपस्याका लक्षण क्या है ?

यहाँ युधिष्ठिर महाराजके कहे हुए अर्थका अभिप्राय समाज-सेवा से है। परन्तु जीविकाके लिये मनुष्य मात्र स्वतः ही समाजकी सेवा करता है। क्योंकि समाजकी सेवासे ही मनुष्योंकी जीविकाका निर्वाह होता है। अतएव यह तो कुछ विशेष बात नहीं है कि इसे तपः कहा जावे। जीविका के उद्देशसे या स्वार्थसे जो समाज-सेवा है इसमें अवश्य तपःका कोई प्रश्न नहीं है; क्योंकि मनुष्योंकी चित्तवृत्तिकी ऐसी ही स्वाभाविक गति है। किन्तु समाज-सेवाके उद्देशसे समाजकी सेवा करना निष्काम या परार्थपर कर्म होने से इसमें अवश्य तपःका लक्षण है। क्योंकि निष्काम या परार्थपर होने में चित्तवृत्तिकी स्वाभाविक गति जो स्वार्थपरताकी ओर है उसे रोकना पड़ता है। यक्ष-युधिष्ठिरके इस प्रश्नोत्तरसे यह आभा जाता है कि, लोग निष्काम होकर याने समाजको हित-चिन्तासे समाज-सेवा नहीं करते थे। लोग स्वार्थाभिसन्धिसे अपने वर्णके अनुरूप कर्मोंसे समाज-सेवा करते थे और अपनेको स्वकर्मनिरत समझते थे। स्वकर्म-निरतोंकी ऐसी ही परिस्थिति अब भी है। किन्तु स्वकर्म और स्वधर्ममें यह भेद है कि, स्वकर्म जब निष्काम होकर किया जाता है तब वह स्वधर्म कहाता है। अथवा यों समझना चाहिये कि, प्रत्येक मनुष्यका यह धर्म (कर्त्तव्य Duty) है कि वह स्वकर्म (जीविका निर्वाहक कर्म Occupation) निष्काम होकर करे।

यक्षका प्रश्न था "ब्राह्मणोंका कौन धर्म साधु है।" इसके उत्तरमें युधिष्ठिरने कहा था "तपस्या उनका साधुभाव है।" अब यहाँ तपस्याका अर्थ यह समझा गया कि, जो ब्राह्मण निष्काम होकर स्वकर्म द्वारा समाज की सेवा करता है वही तपस्वी है, साधु है, स्वधर्मका अनुवर्त्तनकारी है।

---

* "वेदाभ्यासोहि तपः परमिहोच्यते"—अर्थ—वेदाभ्यासही ब्राह्मणोंका परम तप कहाता है। (मनु अ० २-१६६)। कदाचित् यह उस समयमें कहा होगा जब ब्राह्मणोंमें वेदाध्ययनका भी लोप हो रहा था।

जो ब्राह्मण ऐसा नहीं करता वह स्वकर्मका अनुवर्त्तनकारी होकर के भी स्वधर्मसे पतित ही है। उस कालके ब्राह्मणों पर महाभारतकारका ऐसा आक्षेप था। और इस कालमें भी वह आक्षेप वैसा ही बना है। ब्राह्मण वर्णका स्वधर्म है ज्ञानार्जन और ज्ञानवितरण—" ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्।"
(मनु)।

यक्षने पूछा—" कुल, वृत्त, स्वाध्याय और श्रुति, इनमेंसे कौनसा ब्राह्मणत्वका कारण है ? "

युधिष्ठिर महाराजने उत्तर दिया—" कुल (जाति वा वर्ण), स्वाध्याय (वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन), वा श्रुति (वेद—परन्तु यहां इसका सङ्केत अर्थ वेदका अध्यापन है), इनमें से कोईभी ब्राह्मणत्वका कारण नहीं है, एक मात्र वृत्तही ब्राह्मणत्वका कारण है *। अतएव ब्राह्मणोंको वृत्तकी रक्षा विशेष रूपसे करनी चाहिये। वृत्त-क्षीण न होनेसे ब्राह्मण कभी हीन नहीं होता। किन्तु क्षीणवृत्त होनेसे ही हीन हो जाता है। जो ब्राह्मण केवल अध्ययन, अध्यापना वा शास्त्र-चिन्ता करते हैं वे सब व्यसनी (केवल पढ़ने पढ़ानेही में आसक्त) और मूर्ख हैं। (परन्तु) जो क्रियावान् हैं (शास्त्रोंके मर्मको कर्ममें परिणत करनेवाले हैं) वेही यथार्थमें पण्डित हैं। चतुर्वेदवेत्ता व्यक्तिभी दुर्वृत्त (दुराचारी वा दुष्टवृत्तिक) होने से कभी ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। हां, वह शूद्रों से केवल वर्णमें भिन्न है इतनी ही विशेषता है। किन्तु जो अग्निहोत्र परायण है वही यथार्थ में ब्राह्मण है। "

(५) ब्राह्मणत्वका कारण क्या है ?

युधिष्ठिर महाराजका उत्तर हमलोगोंके लिए पहेली सरीखा है। अतएव उसमें जितने शब्द आये हैं उनमें से केवल " वृत्त " और " अग्निहोत्र परायण " ये ही दो शब्द ऐसे हैं जिनके आधार पर हमको इस पहेलीका रहस्य भेद करना है। क्योंकि इन्हीं दो शब्दोंमें ब्राह्मणत्वके लक्षण बतलाये गये हैं। सुतरां इन दोनों में कोई विशेष सम्बन्ध भी होगा। उस विशेष सम्बन्ध पर लक्ष रखके हमको अपना विचार प्रगट करना पड़ेगा।

कोषके अनुसार वृत्त शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार सिद्ध होती है—वृत् + क = वृत्त। इसका अर्थ होता है—न्याय पूर्वक अर्थका उपार्जन करना, पालन करना ‡, वर्द्धन करना और सत् पात्रों में दान देना—वृत्त के ये चार अङ्ग हैं। युधिष्ठिरके उत्तरमें " अतएव ब्राह्मणोंको वृत्तकी रक्षा विशेष रूपसे करनी चाहिये " यह जो वाक्य आया है उसका अर्थ यदि यह होता है कि, ब्राह्मणोंको न्याय पूर्वक

(६) ब्राह्मणत्वका कारण वृत्त क्या है ?

---

* वेद पढ़ानेका अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ण को है। ‡ अर्थका पालन—मिताक्षरा।

अर्थका उपार्जन, पालन, वर्द्धन और सत् पात्रोंमें दान देना चाहिये तो वृत्त ब्राह्मणत्वका कारण नहीं माना जासकता। क्योंकि सभी वर्णोंके गृहस्थ मात्रके ये कर्तव्य हैं कि वे न्याय पूर्वक अर्थका उपार्जन, पालन, और वर्द्धन करें एवं सत् पात्रोंको दान देवें। वृत्त गृहस्थका सामान्य, और वैश्यों एवं राजाओंका विशेष लक्षण हो सकता है। ऐसे वृत्तके क्षीण होनेसे गृहस्थ और विशेष करके वैश्यवर्ण (रोजगारी) एवं राजा अवश्य हीन हो जाते हैं। वृत्त, केवल ब्राह्मण वर्णके ब्राह्मणत्वका कारण होनेके लिए उसका कोई गूढ़ अर्थ होना चाहिये, जोकि केवल ब्राह्मण वर्णको ही लागू हो। वृत्तके जो चार अङ्ग हैं उनका अनुष्ठान चाहे अपने लिए किया जावे अथवा परायेके लिए किया जावे, उनका सम्बन्ध सदा समाजसे ही रहेगा। अपने लिए अर्थका उपार्जन, पालन, और वर्द्धन करना, इस विषयमें ब्राह्मणोंके लिए कोई विशेष विधि नहीं है। यदि कोई विधि होती तो प्रत्येक कर्मके लिए × शास्त्रमें पुरोहितोंके लिये दक्षिणाका मूल्य निर्द्धारित रहता और संकल्पके मंत्रमें उसका उल्लेख होता एवं दक्षिणान्तके मंत्र में भी उस मूल्य का पुनरुल्लेख करना पड़ता। दक्षिणान्तके मंत्रमें ÷ हम देखते हैं कि यजमान इच्छाकी फलसे लगा कर काञ्चन तक अपनी श्रद्धा और सामर्थ्यके अनुसार पुरोहितको दक्षिणा दे सकता है और पुरोहित भी उसीमें सन्तोष मानता है + । किसी व्यक्ति विशेषके लिए अर्थका उपार्जन, पालन और वर्द्धन करना ब्राह्मणोंके द्वारा नहीं होना चाहिये, क्योंकि ऐसा कर्म व्यक्ति विशेषकी नौकरी होनेसे ब्राह्मणोंके लिए मनुस्मृति में मना है। (सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्—दूसरेकी नौकरी कुकुर वृत्ति है उससे जीविका न करे। मनु अ० ४।६)

अतएव समाजके लिए अर्थकी उत्पत्ति, पालन और वर्द्धनका उपाय सत् पात्रोंको याने वैश्य और अभिषिक्त राजाओंको बतला देना ब्राह्मणोंका वृत्त हो सकता है। ऐसा वृत्त, और धनोत्पत्तिके लिए व्यावहारिक शिक्षाका प्रचार, एकही बात है। और यह, शिक्षासे सम्बन्ध रखने के कारण ब्राह्मणोंका ही समाज नियोजित स्वकर्म है। बिना "क्रिया" के, याने बिना कोई नवीन

× श्रौत, स्मार्त, तान्त्रिक और पौराणिक क्रियायें जो पुरोहितोंके द्वारा कराई जाती हैं।

÷ दक्षिणान्त-मन्त्र—"कृतैतत् अमुक कर्मणः प्रतिष्ठार्थं दक्षिणामिदं काञ्चन मूल्यं रजत मूल्यं (कांचन खण्डं रजत खण्डं) हरितकी फलकल्पितां श्रीविष्णु दैवतं यथा सम्भव गोत्र नाम्ने ब्राह्मणाय (तुभ्यम्) अहं ददानि।"

+ जहां कहीं किसी पुरोहितमें इसके विपरीत आचरण देखनेमें आवे वहां समझना चाहिये कि उस पुरोहितमें ब्राह्मिक वृत्तिकी कमी है।

ज्ञानके प्राप्त करने की चेष्टा किये, केवल अध्ययन अध्यापना और शास्त्रचिन्ता इनके पाण्डित्य या ब्राह्मणत्वके परिचायक नहीं हो सकते। और यदि ब्राह्मण "दुर्वृत्त" होगया, अर्थात् किसी नवीन ज्ञानको प्राप्त कर उसके सहारे अपने ही लिये अर्थका उपार्जन पालन और वर्द्धन करने लग गया, एवं वैश्य वर्ण और अभिषिक्त राजाको उसकी शिक्षा न दी, तो उसने समाज-नियोजित अपने स्वकर्मसे पतित होकर ब्राह्मणत्वको खो दिया।

पुनश्च--वृत्तका अर्थ है—"गुरुपूजा घृणा शौचं सत्यमिन्द्रिय निग्रहः। प्रवर्त्तनं हितानांच तत् सर्वं वृत्तमुच्यते॥" (कोष से संगृहीत) अर्थात्, गुरुजनोंकी पूजा, पापकर्मोंमें घृणा, शौच, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह और सबके हितमें रत रहना, ये सब वृत्त कहाते हैं। गुरुपूजादि सात्त्विक वृत्तियां जब सदाचार हैं तब सभी मनुष्यों की ऐसी वृत्तियां होनी चाहिये। तो फिर ये सब वृत्तियां केवल ब्राह्मणोंका ही वृत्त है ऐसा क्यों कहा गया? युधिष्ठिर के उत्तरमें "अध्यापना" शब्दके रहने से यही सूचित होता है कि, यक्षने ब्राह्मणवर्णके ही विषयमें प्रश्न किया था न कि मनुष्योंकी सात्त्विक वृत्तिके विषयमें। क्योंकि अध्यापना केवल ब्राह्मण वर्णका ही स्वकर्म है। अतएव वृत्त शब्दका अर्थ हमारे विचारके अनुकूल "सबके हितमें रत रहना" होता है। क्योंकि इसके साथ जीविकार्जनी वृत्तिका* जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, उतना घनिष्ट सम्बन्ध गुरुपूजा, पाप कर्मोंमें घृणा आदिके साथ नहीं।

अब देखना चाहिये कि, "सबके हितमें रत रहना" रूप वृत्त या वृत्ति यदि किसीमें सम्यक् पुष्ट हुयी हो तो उसके क्षीण होनेकी कल्पना सम्भवपर हो सकती है। "सबके हितमें रत रहना" मनुष्यके लिये असाध्य बात है! हां, यत्र तत्र किसीका हित करना उसके लिये सम्भव है। परन्तु सबका याने समाजका हित करनेके लिये शिक्षाका प्रचार करना ब्राह्मणोंके लिये न केवल सम्भवपर ही है बल्कि सहज और साध्य भी है—जैसाकि तुमको समाज तत्त्वके वर्णनसे मालूम होगया है। अतएव शास्त्रोक्त विषयोंका केवल अध्ययन, चिन्तन और अध्यापना ही ब्राह्मणत्वका लक्षण नहीं है। परन्तु शास्त्रीय शिक्षाको कर्ममें याने व्यवहारमें परिणत करना और कराना ही शिक्षक श्रेणी याने ब्राह्मणोंका यथार्थ लक्षण है। इसीमें इनका शिक्षकत्व या ब्राह्मणत्व है। तथा, शास्त्रीय ज्ञान-भण्डारमें नये नये ज्ञान-रत्नोंका संग्रह कर्त्ता ही वास्तविक पण्डित है। और ऐसेही ब्राह्मण यथार्थमें पुरोहित

---

* वृत्ति = वृत् + क्ति—भा = अर्थ जीविका, व्यवसाय।

याने समाजके हितकारी हैं। शास्त्रोंका मौखिक ज्ञान पाण्डित्यका लक्षण नहीं है। +

नये नये ज्ञान रत्नोंके संग्रह बिना समाजका सम्यक् हित नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्यसमाजकी अवस्था स्थितिशील नहीं है। यातो उसकी उन्नति ही होगी अथवा उन्नतिके अभावमें अवनति होती रहेगी। एकसी दशामें वह नहीं रह सकती। इस कारण समाज-हितू अर्थात् यथार्थ समाज-सेवक स्वकर्म-निरत तथा स्वधर्म परायण ब्राह्मणोंमें नये नये ज्ञान रत्न आहरण करनेका साधन होना चाहिये। और ऐसा साधन जिसमें है उसीका स्थान समाज-सेवकोंकी श्रेणीमें सबसे ऊँचा है। इस विचारसे युधिष्ठिर महाराजने अपने उत्तरमें कहा "जो अग्निहोत्र परायण है वही यथार्थमें ब्राह्मण है"। इससे अग्निहोत्रको ज्ञान आहरणका साधन कहा गया। अतएव ज्ञान-आहरण रूप अग्निहोत्रके साथ ज्ञान-वितरण रूप वृत्तका, साध्य-साधन रूप, घनिष्ठ सम्बन्ध है ऐसा अनुमान करना पड़ता है।

यक्ष-युधिष्ठिरके इन प्रश्नोत्तरोंसे यह जाना गया कि, उन दिनों ब्राह्मण लोग लकीरके फकीर होकर केवल वेद शास्त्रादिकोंका अध्ययन, अध्यापना किया करते थे। किसी नई बातका आविष्कार करना उन्होंने छोड़ दिया था। प्रकृति रूप महाग्रन्थाकरका लक्ष्य उनसे भ्रष्ट होगया था। समाज-सेवा का ज्ञान उनके मनसे लोप होगया था। आज दिन भी * ब्राह्मणोंकी यही परिस्थिति है!

अब हमको, अग्निहोत्र कैसे ज्ञान-आहरणका साधन हो सकता है, इसका अनुसन्धान करना है। अग्निहोत्र एक प्रकारका नित्य यज्ञ है जो द्विज जातिके (जिनका जनेऊ होता है) द्वारा अग्नि देवकी परितुष्टिके लिये प्रातः और सायंकालमें किया जाता था। ब्रह्मचर्य्याश्रममें रहते हुए इन द्विजजातित्रय (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के बालकोंको प्रतिदिन सन्ध्योपासनाके अनन्तर अग्निमें काष्ठप्रक्षेपादि कर्म और भोजनके पूर्व हविः प्रदान करना पड़ता था। यही ब्रह्मचारियोंका अग्निहोत्र था। ब्रह्मचारी जब गुरुकी आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रममें

ब्राह्मणत्वका कारण अग्निहोत्र क्या है?

+ बड़ी आश्चर्यकी बात है कि, अब कुछदिनोंसे अर्व्यसमाजियों पर क्रुद्ध होकर अपने पूर्वजोंकी चलाई हुई "शर्मा" उपाधिको छोड़कर "पण्डित" उपाधि लेने लगगये हैं चाहे वे शास्त्रका "श" भी न जानते हों। इस तरह "पण्डित" शब्द अब जातिवाचक या वर्णका वाचक हो जायगा, तब इस समयके लेखोंमें इस नामीके अर्थमें जो पण्डित शब्द आया है वह भविष्यत् वंशियोंके लिये पहेलिका होजायगा।

* सन १९२३ ई० में दशा सुधरती हुई देख पड़ती है।

प्रवेश करता था तब विवाहके अनन्तर × अपने घरमें विवाहमें संस्कृत किया हुआ अग्नि, वेद मंत्र द्वारा स्थापन करता था। इस अग्निमें उसे जो नित्य-क्रिया करनी पड़ती थी—याने प्रातः और सायंकाल होम और अग्निकी उपासना और मध्याह्नकालमें हविः प्रदान—वही उसका अग्निहोत्र था। यह अग्नि कभी बुझने नहीं पाती थी। इस प्रकार गृहस्थाश्रमी का अग्निहोत्र था ‡। द्विज गृहस्थ जब तक गृहस्थाश्रममें रहता था तब तक घरमें अग्निहोत्र कर्म करता था और जब जीवनकी तीसरी अवस्थामें याने ५० से ७० वर्षकी आयुमें वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करता था तब उस गार्हपत्य अग्निको साथ लिये जाता था, और सन्यासाश्रममें प्रवेश करनेके पूर्व तक ऊपर कही रीतिसे अग्निहोत्र कर्म करता था। इस प्रकार वानप्रस्थाश्रमीका अग्निहोत्र था। अग्निहोत्र कर्म पारलौकिक श्रेयके लिये निष्काम धार्मिक नित्यकर्म माना जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मणोक्त कथाके अनुसार अग्निहोत्रगत हविः ही अग्निका खाद्य है। इसके सिवायें और जो कुछ हविः अग्निमें डाली जाती है उसे वह देवताओंको पहुंचा देता है। इसलिये अग्निका एक नाम हव्यवाहन है।

उपर्युक्त अग्निहोत्र क्रियाको लक्ष्य करके युधिष्ठिर महाराजने ऐसा न कहा होगा कि, जो अग्निहोत्र परायण है वही यथार्थमें ब्राह्मण है। ऐसा कहनेसे अग्निहोत्र परायण क्षत्रिय और वैश्यभी ब्राह्मणके लक्षणयुक्त अथवा ब्राह्मण होजाते हैं। अतएव किसी स्वतंत्र विचारसेही युधिष्ठिरने अग्निहोत्र शब्द कहा है।

अथवा क्या ऐसा समझना चाहिये कि किसी अग्निहोत्री ब्राह्मण पण्डितने स्वश्रेणीकी श्रेष्ठता बतलानेके लिये युधिष्ठिरके उत्तरमें उक्त वाक्य महाभारतमें प्रक्षेप किया है?

पुनश्च, वेद मंत्र द्वारा संस्थापित अग्निमें प्रतिदिन होम करना रूप अग्निहोत्रही यदि ब्राह्मणत्वका लक्षण हो तो "वृत्त ही ब्राह्मणत्वका कारण है" ऐसा कहना निरर्थक होता है। क्योंकि, पीछे जैसा अग्निहोत्रका वर्णन किया है उससे "वृत्त" का कोई सम्बन्ध नहीं दिखता। यदि किसी प्रश्नके उत्तरमें कहे हुए वाक्यका एक अंश दूसरे अंशके विरुद्ध होवे तो वह वाक्य उस प्रश्नका यथार्थ उत्तर नहीं हो सकता। सुतरां, या तो वृत्तके साथ अग्निहोत्र की संगति है ऐसा मानना पड़ेगा अथवा अग्निहोत्रको यहां प्रक्षिप्त समझना पड़ेगा। "जो अग्निहोत्र परायण है" इस वाक्यांशको प्रक्षिप्त माननेके लिये यह भी अनुमान करना पड़ेगा कि उन दिनोंमें, इन दिनोंकी तरह, द्विज जाति

× वसन्तकालमें ब्राह्मण, ग्रीष्मकालमें क्षत्रिय, और शरत्कालमें वैश्य गृहप्रवेश अग्नि की स्थापना करता था। ‡ पारसी लोगोंमें इस प्रकारका अग्निहोत्र अभी तक प्रचलित है।

मात्रके द्वारा अग्निहोत्र नित्य कर्म रूपसे आचरित नहीं होता था। सुतरां ब्राह्मणवर्णके जो लोग पूर्व पुरुषोंके अनुयायी होकर इसका नित्य आचरण करते थे, वे अपनेको अन्य ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ बतलानेके लिये "अग्निहोत्री" की उपाधि प्राप्त कर चुके थे। ऐसा अनुमान चाहे सत्य भी हो तथापि हम "जो अग्निहोत्र परायण है" इस वाक्यांशको प्रक्षिप्त माननेको प्रस्तुत नहीं हैं। अपरंच हम यह सिद्ध करने को प्रस्तुत हैं कि श्रुत और अग्निहोत्रमें साध्य-साधन सम्बन्ध है और दोनोंकी विशेष संगति है। युधिष्ठिरके ऐसे उत्तरसे केवल यही बात प्रकट होती है कि वे ब्राह्मण, जो केवल स्थूल अग्निकी रक्षा अपने घरोंमें करते हैं और केवल उसकी ही नित्य सेवा स्वधर्मकी भांति करते हैं, किन्तु अग्निदेवसे श्रुत रूप कार्य्य सम्पादनका उपाय नहीं पूछते ×, यथार्थमें स्वधर्म परायण ब्राह्मण नहीं हैं।

जाति, कुल अथवा वर्णके नामसे ब्राह्मणत्वकी सिद्धि नहीं होती, युधिष्ठिरके मुखसे ऐसा कहलाकर महाभारतकारने समाजतत्वमें हमारी कही हुई वर्णव्यवस्थाकी ही पुष्टि की है। किन्तु वेदादिशास्त्रोंका "अध्ययन अध्यापना" (स्वाध्याय और श्रुति), तथा यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह (जिनका विशेष उल्लेख यहाँ पर नहीं है), इनमेंसे किसीको भी ब्राह्मणत्वका कारण अथवा लक्षण न मानना स्मृति विरुद्ध है। और तीनों वर्णोंके एक सामान्य कर्म अग्निहोत्रको ब्राह्मणत्वका कारण मानना एक रहस्यकी बात है! सुतरां इस रहस्यको समझनेके लिये, पहिले जैसा विचार करते चले आये हैं कि, समाजका हित करना और समाजके हितके लिये नये नये ज्ञानका आविष्कार करना ब्राह्मणोंका कर्त्तव्य है, ऐसा मानना होगा। अतएव ऐसे आविष्कारोंके लिये आवश्यक मानसिक शक्ति जिस देवताके आधीन हो और ऐसी शक्तिके प्रयोग करनेकी सामर्थ्य भी जिसमें हो उस देवताका आराधन करके कृतकार्य या कृतार्थ होना ब्राह्मणत्वका कारण हो सकता है। अर्थात् जो ब्राह्मण समाजके हितकी कामनासे बुद्धि वृत्तिकी संचालना करता है एवं किसी नये ज्ञानके आविष्कारसे सफल मनोरथ होकर उसके द्वारा समाजको लाभ पहुँचा सकता है वही "यथार्थमें ब्राह्मण है"। जो ब्राह्मण केवल अध्ययन करता है वह "व्यसनी" है और दक्षिणा लेकर केवल पढ़ाना और याजन कराना उसके लिये मेहनताना लेकर केवल दूसरोंका काम कर देना है, जैसा कि शूद्र मेहनताना लेकर काम करते हैं। और यजन कार्य्य

× हे सामर्थ्यवान् अग्नि! हमें वह तत्व समझाइये जिससे हम पृथ्वीके सब पदार्थोंका उपभोग कर सकें। ऋग्वेद अष्ट० २, अ० १, मंड० १, अनु० १९, सू० १२७, म० ११ (श्रुतिबोध) मंत्र—"महि मविष्ठ नस्कृधि संचक्षे भुजे अस्यै।"

अन्वय—"हे मविष्ठ नः महि संचक्षे कृधि भुजे च अस्यै (कृधि)।"

अपने पारलौकिक श्रेयके लिये होनेसे समाज-सेवाकी दृष्टिमें उसका कोई मूल्य नहीं है, तथा क्षत्रिय और वैश्यभी यजन कर्म्म करते हैं। वर्ण व्यवस्था युक्त हिन्दू समाजमें ब्राह्मणवर्ण, समाजका नेता तथा शिक्षक है। यह नेतृत्व और शिक्षकता ही उसके ब्राह्मणत्वका कारण है। यदि वह समाजका अभ्युदय और व्यक्तियोंका निश्रेयस् साधन कर सकता है याने समाजका हित कर सकता है तो वह यथार्थमें ब्राह्मण है याने नेता और शिक्षक है अन्यथा वह केवल नाम मात्रका ब्राह्मण है। इन विचारोंसे युधिष्ठिर महाराजका उत्तर बराबर युक्तिसंगत होता है। और समाजका हित ज्ञानसापेक्ष होनेसे "ज्ञान" समाज-हित रूप साध्यका साधन हो जाता है। अतएव समाज-शिक्षक ब्राह्मणवर्णका साधन हुआ "ज्ञानार्जन," और साध्य हुआ "समाज-हित" जिनको युधिष्ठिर महाराजने "अग्निहोत्र" (ज्ञानार्जनी वृत्तिकी परिचालना) और "वृत्त" (सबके हितमें रत रहना) के नामसे कहा है।

अब हमको पुराणों और वेदोंमें इस बातका अनुसन्धान करना है कि, अग्निके साथ मनुष्योंकी ज्ञानार्जनी वृत्तिका वह कौनसा सम्बन्ध है कि जिसके आधार पर युधिष्ठिर महाराजने 'अग्निहोत्र परायण' शब्द कहा है। पुराणोंमें अग्निका परिचय इस प्रकार मिलता है—(१) "अग्नि, कश्यप (मरुत्) और अदिति (आकाश) के पुत्र हैं।" यहां अग्नि, तेजः तत्व है। क्योंकि आकाश और वायुके मेलसे तेजः तत्व (उष्णता और प्रकाश) की उत्पत्ति दर्शन शास्त्रोंमें मानी गई है।

पुराणोंमें अग्नि देवता का परिचय।

(२) "धर्मसे, वसु-नाम भार्य्याके गर्भमें अग्नि उत्पन्न हुए थे।" वसुधा पृथ्वीका नाम है। सुतरां वसु शब्दसे जीव और स्थावर वस्तुओंका लक्ष्य होता है। धर्म वह है जो जीवोंको धारण (पालन, पोषण, उन्नत) करता है। अपने पालन-पोषणकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेवाली मनुष्योंकी मानसिक चेष्टा और स्थावर वस्तुओंके संघर्षसे कार्यकारिणी बुद्धि उत्पन्न होती है—यथा, भूमि, जल और बीज पृथ्वीपर उपस्थित रहते हुए भी आदिम मनुष्योंको कृषि-कौशलका ज्ञान न था। केवल अन्नकी आवश्यकताका ज्ञान था। उसकी पूर्त्तिके लिये उनमें इच्छा थी। यह इच्छा जब बलवती होकर अन्नके उपादान भूमि, जल और बीजके संग मिलकर चेष्टान्वित हुई, तब दोनोंके संघर्षसे कार्यकारिणी बुद्धिका उदय हुआ—जिससे कृषि-कौशलका आविष्कार हुआ। इसी प्रकार अन्य विषयोंमें भी समझो। उचित उपायसे जीवन यात्राके तथा अपनी उन्नतिके लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह धर्म है और यही, कर्त्ता होनेके कारण रूपकमें भर्त्ता कहा गया। और वसु याने अन्य पार्थिव वस्तु, उपादान होनेके कारण रूपकमें भार्य्या कही गयी। इन

धोनोंके संघर्षसे जो कार्यकारिणी बुद्धि उत्पन्न होती गयी उसको रूपकमें अग्नि इसलिये कहा कि संघर्षसे ही अग्नि (उत्ताप) की उत्पत्ति होती है।

अतएव, अग्नि शब्दसे मनुष्योंकी वह मानसिक वृत्ति विवक्षित है जिसकी शक्तिसे मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये स्थावर वस्तुओंको उपयोगमें लाते हैं। मनुष्यकी वह मानसिक वृत्ति 'बुद्धि' है।

(३) "(क) अग्निके तीन पैर, (ख) सात हाथ और (ग) दो मुख हैं।" (क) सात्विक, राजसिक, और तामसिक बुद्धि—इस प्रकार बुद्धिके तीन भेद देखे जाते हैं। जिस समय सतोगुणके आधार पर बुद्धि काम करती है उस समय वह सात्विक, रजोगुण पर राजसिक, और तमोगुणके समय तामसिक कहाती है। बुद्धि इन तीनों गुणोंमें किसी एक पर खड़ी होकरही काम करती है। अतएव ये तीन गुणही उसके तीन पैर हैं, अर्थात् स्थिति स्थान हैं। (ख) पांच ज्ञानेन्द्रियां, चित्त एवं अहङ्कार ये सात स्थान, बुद्धिके कार्य्य करने और प्रकाशित होनेके साधन हैं, इसलिये कहा गया है कि अग्निके सात हाथ हैं। (ग) जीवित प्राणीमें मुखमण्डल (कण्ठसे ऊपर का भाग) ही प्रधान अङ्ग है। मनुष्य इसी अङ्गके द्वारा अनायास पहचाने जाते हैं। गीताके सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें कहे हुए—भूमि, जल, अनल (अग्नि) वायु, आकाश; मन, बुद्धि, अहङ्कार; और जीव (प्राण) इन नव तत्त्वोंमेंसे प्रथम पांच अचेतन हैं, दूसरे तीन चेतनप्राय हैं, और शेष एक चेतन है। अचेतनकी कोटिमें जो अनल या अग्नि है उसके दो विभाग हैं। एक अपनी सूक्ष्मताके कारण तेजस्तत्व कहाता है जिसका रूप विद्युत्के प्रकाशमें हम देखते हैं। दूसरा अपने स्थूलत्वके कारण आग कहाता है। अग्निका सूक्ष्म रूप तेजस्तत्व जब प्राणके साथ देहमें सम्मिलित होता है तब वह बुद्धि रूपसे प्रकाशित होता है। अतएव अग्निका अचेतन स्थूल रूप अङ्गार, प्रकाश आदि, जो ताप और आलोक देनेवाले हैं, उसका एक मुख है। और उसका चेतनप्राय सूक्ष्म रूप, जो प्राणियोंकी देहमें बुद्धि रूपसे प्रकाशित होता रहता है, वह उसका दूसरा मुख है। अर्थात् अचेतन 'तेज' और चेतनप्राय 'बुद्धि' ये दो तत्व अग्निके दो मुख हैं।

अग्निके सम्बन्धमें पुराणोंमें कहे हुए रूपककी मैंने जिस प्रकार व्याख्या की है, उस परसे तुम समझ गये होगे कि महाभारतकारने भी पुराणोंकी शैलीसे 'ज्ञानार्जनी वृत्तिका सञ्चालन जो करता है' इस आशयको "जो अग्निहोत्र परायण है" इन शब्दों में कहा है। इसीकी पुष्टिमें अब वेदसे अग्निका कुछ परिचय दिया जाता है।

ऋषियोंकी वाणीरूप वेद मंत्रोंका मौखिक प्रचार कब से चला आ रहा था हमको मालूम नहीं। और वेद संगृहीत, याने उन मंत्रोंका क्रमबद्ध संग्रह,

वेदोंमें कौन वस्तु अग्नि मानी गई है ?

होनेके पूर्व वे किस क्रमसे कन्ठस्थ किये जाते थे सो भी हमें मालूम नहीं। वेदको हम लोगोंने जिस रूपमें प्राप्त किया है वह रूप महर्षि कृष्णद्वैपायनका दिया हुआ है। महर्षिजीने वेदमन्त्रोंको संग्रह करके चार भागोंमें विभक्त किया था, यथा—ऋक्, साम, यजु और अथर्व। इन चारों वेदोंमें ऋग्वेद प्रथम समझा जाता है। इस ऋग्वेदके आरम्भमें ही अग्नि देवकी स्तुति मिलती है। इससे हमारी समझमें यही बात आती है कि महर्षि व्यास भी 'अग्नि' शब्दसे बुद्धि तत्त्वका ही अर्थ मानते थे। सृष्टिके विषयमें बुद्धितत्व (महत्तत्व) का विकाश सर्व प्रथम हुआ था (प्रकृतेर्महान-प्रकृतिसे महत्तत्व हुआ—सांख्य), ऐसा माने जानेके कारण महर्षिजीने इस चेतनप्राय तत्वकी स्तुति विषयक मन्त्रको वेदके आरम्भमें ही स्थान दिया है। यदि अग्नि शब्दसे वे अचेतन कोटिके सूक्ष्म और स्थूल अनल को समझते तो व्योमके देवता इन्द्रकी स्तुतिको सर्व प्रथम स्थान देते। हां, यह शङ्का हो सकती है कि, जब अग्निके बिना किसी भी देवताके निमित्त होम नहीं किया जा सकता, तब अग्निको प्रथम स्थान क्यों नहीं मिलना चाहिये ? परन्तु यह युक्ति हीनबल है; जैसा कि, नीचे लिखे वेद मन्त्रकी व्याख्यासे सिद्ध होता है—

ऋग्वेद—१ अष्टक—१ मण्डल—१ अ०—१ अनु—१ सूक्त।

मन्त्र १—"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्‌ होतारं रत्नधातमम्‌।"

अर्थ—अग्नि सब देवताओंका अग्रणी (अगुआ) है, यज्ञका सम्माननीय आचार्य है, असंख्य रत्नोंका निधि है। (श्रुतिबोध)

व्याख्या—(१) जीवमें बुद्धिका बोध रूप कार्य्य प्रथम होता है, अनन्तर इन्द्रियोंके कार्य्य प्रकाशित होते हैं। जैसे—नींद खुलने पर पहले अपने अस्तित्वका बोध हुआ, अनन्तर शीत मालूम हुई तब कपड़ा ओढ़ा। इस दृष्टान्तसे समझा गया कि इन्द्रियोंके कार्य्य प्रकाशित होनेके पूर्व बुद्धिका कार्य प्रकाश पाता है। इस मन्त्रमें इन्द्रियोंको देवता कहकर बुद्धिको उनका अग्रणी कहा है।

(२) शिक्षक वा उपदेशकको आचार्य्य कहते हैं। जड़ अग्नि यज्ञ सम्बन्धी कर्मोंका उपदेशक नहीं हो सकता। बुद्धि द्वाराही ये कर्म प्रकाशित हुए हैं, अतएव बुद्धितत्वको ही यहां अग्नि कहा है।

(३) असंख्य रत्नोंका निधि जड़ अग्नि नहीं है। रत्नोंकी निधि तो पृथ्वी है। किन्तु पृथ्वीसे रत्नों को (सब प्रकारके धन धान्य) संग्रह करने के लिये बुद्धिकी सहायताकी आवश्यकता होती है।

मन्त्र ५—" कविक्रतुः— " अर्थ—" बुद्धिशाली पण्डितोंको, ज्ञान-सामर्थ्य अग्निसे प्राप्त होती है। " (श्रुतिबोध)। इसका अभिप्राय यह है कि, सृष्टि कार्य्यमें तेजस्तत्व ही क्रियाशक्ति है। इस क्रियाशक्तिको जो बुद्धिमान् पुरुष विचारते रहते हैं उनमें दो तरहकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है—पदार्थोंके गुणोंके विचारसे वैषयिक उन्नति साधक सामर्थ्य और अन्तर्जगत्‌की क्रियाओंके विचारसे अध्यात्म विषयक जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे मुक्ति पानेकी सामर्थ्य। अतएव बुद्धिके द्वारा प्रकृतिके अनुशीलन रूप कर्मको वेद मन्त्रके आधार पर महाभारतकारने युधिष्ठिरके मुखसे " अग्निहोत्र " शब्द कहलाया है,—ऐसा सिद्ध होता है।

पुनश्च, मन्त्र ५—"सत्यः"—अर्थ—" अग्निके दिये हुए वर निःसंशय सफल होते ही हैं। " (श्रुतिबोध)। इस मन्त्रसे क्या यह समझना चाहिये कि, अग्नि देवताओंके दिये हुए वरके सफल होनेमें संशय रहता है? यदि संशय नहीं रहता है तो क्या यह स्तुति केवल चाटुवाद मात्र है? ऋग्वेदमें जिन मनुष्योंने अग्निकी स्तुतियां गाई हैं वे ऋषि-पदवीको पहुँचे हुए थे। ऋषिपदवीके योग्य वही मनुष्य होता है जिसका शरीर और अन्तःकरण शुद्ध तथा सरल है, चाटुकार तो अन्तःकरणका कुटिल होता है। पहिले कह चुके हैं कि तेजस्तत्व तथा रजोगुण (क्रियाशक्ति)का स्थूल रूप अग्नि है। रजोगुणका कार्य उत्साह और उद्योग है। जो रजोगुणका अनुरागी (पूजक) पुरुष रजोगुण रूपी अग्नि देवसे कोई अभीष्ट वर मांगकर उसकी सफलताके लिए उत्साह पूर्वक उद्योग करता है उसका वह वर सफल होनेवाला ही है। क्योंकि ऐसा मनुष्य स्वभावसे ही उत्साही होता है। वह आलसीके समान यह नहीं सोचता कि कोई दूसरा अथवा दैव मेरा अभीष्ट साधन कर देगा।

दृष्टान्त—किसी महात्माने दो विद्यार्थियोंको यह वर दिया कि तुम प्रवेशिका परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाओगे। उनमें से एकने उस वरको निमित्त मानकर अपने पाठमें मन नहीं लगाया, वरके भरोसे निश्चिन्त होकर बैठ गया। दूसरे लड़केको यह वर ऐसा उत्साह वर्द्धक हुआ कि वह दूने उत्साहसे अपने पाठमें परिश्रम करने लगा। फल यह हुआ कि आलसी लड़का तो परीक्षामें फेल होगया और उत्साही लड़का प्रथम भागमें ससम्मान उत्तीर्ण हो गया। हम लोग अपनी आत्मिक उन्नतिके लिये परमात्मासे जो प्रार्थना करते हैं उसकी भी यही दशा होती है। ज्योंही हम लोग परमात्मासे प्रार्थना करते हैं त्योंही वह हमको वर देता है। परन्तु हमारा यत्न अथवा आलस्यही अन्तको प्रकाश कर देता है कि वह प्रार्थना और वर सफल अथवा विफल हुए।

अतएव "रजोगुणका (अग्निका) दिया हुआ वर निःसंशय सफल होता है" ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि, उद्योगी पुरुषका अभीष्ट यद्यपि उसके

उद्योगसे ही सिद्ध होता है तथापि उद्योगके मूलकारण अपने रजोगुणको अपनेसे भिन्न एक देवता मानने से वह पुरुष कर्तृत्वाभिमानसे बद्ध नहीं होता।

"अग्निहोत्र परायण" शब्दोंसे युधिष्ठिरके कहनेका यह अभिप्राय है कि जो ब्राह्मण, चाहे वह वेदवेत्ता पण्डित हो वा न हो, उद्योगी और उत्साही होकर समाजके हितमें अपनी बुद्धिका प्रयोग करता है वही यथार्थमें ब्राह्मण है *।

मन्त्र ८—"गोपामृतस्य"—अर्थ—"(यज्ञके) सब विधियोंका रक्षण करनेवाला अग्नि ही है"। (श्रुतिबोध)।

यज्ञकी विधिकी रक्षा वा लोप होना यज्ञ करनेवालों पर निर्भर है नकि अचेतन यज्ञाग्नि पर; तथापि यहां ऐसे अग्निको उसका रक्षक क्यों कहा गया? वैदिक युगमें लेखन प्रणालीकी सृष्टि नहीं हुई थी। ब्राह्मणवर्ण वेद मन्त्रादि पुरुष परम्परासे मौखिक सीखते चले आते थे। ऐसी मौखिक शिक्षाका स्मरण रखना मनुष्योंको स्मृति-शक्ति पर निर्भर है। यह स्मृति-शक्ति, बुद्धि इन्द्रियके अन्तर्गत एक शक्ति है। और यह स्मृति-शक्ति जीवात्माके सान्निध्यमें तेजस्तत्वके द्वारा बुद्धिवृत्तिमें प्रकाश होती है ‡। अतः अग्निही स्मृति-शक्तिका कारण है और बुद्धि रूपसे जीव देहमें स्थित है, ऐसा इस स्तुतिसे ज्ञात हुआ।

अतएव "वृत्त" और "अग्निहोत्र परायण" शब्दोंसे युधिष्ठिर महाराजके कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि, जो ब्राह्मण अपनी बुद्धि वृत्तिका उपयोग समाजके हित (उन्नति) के लिये करता है वही यथार्थमें अग्निहोत्र परायण है और ब्राह्मण है, चाहे वह स्ववर्ण निर्दिष्ट कर्म अध्ययन एवं

---

* महाभारत शान्तिपर्व २९९—"अग्निहोत्रादिके अनुष्ठान द्वारा दूसरेका हित किया जा सकता है परन्तु सर्वत्यागी होनेसे अपनाही श्रेयोलाभ होता है।

‡ इसका दृष्टान्त ग्रामोफोन है। ग्रामोफोनमें प्लेट के सदृश अन्तःकरणमें चित्त है। प्लेट पर जो अङ्कित लकीरें हैं, वे चित्त पर बाह्य विषयोंके इन्द्रिय संसर्गजात संस्कार हैं। ग्रामोफोनकी सुई, अन्तःकरणमें मन है। प्लेटको घुमाने के लिये ग्रामोफोनका स्प्रिङ्ग ऐंठकर जो दम भरा जाता है वह अन्तःकरणमें तेजस्तत्वकी शक्ति है जो, कभी चित्त रूपी प्लेटको और कभी मन रूपी सुईको चित्तके संस्कार रूपी लकीरों पर घुमाती है (जब हम किसी बातको स्मरण करना चाहते हैं उस समय मन चित्त पर आवश्यक संस्कारको ढूढ़ता है, और अन्य समय जब बिना प्रयोजन चिन्तायें मनमें उठती रहती हैं उस समय प्लेटकी तरह चित्त ही मन रूपी सुईके नीचे घूमता रहता है)। इससे जो फल उत्पन्न होता है वह कभी "स्मरण" और कभी "संकल्प-विकल्प" कहलाता है।

अध्यापना और स्थूल अग्निमें नित्य होम न भी करता हो। और जो ब्राह्मण केवल जीविकाकी चिन्तासे अध्ययन एवं अध्यापना करता है और स्ववर्णके कर्त्तव्य ज्ञानसे तथा धार्मिक भावनासे केवल स्थूल अग्निमें नित्य होम करता है वह पण्डित नहीं है, समाजसेवा-ज्ञान रहित मूर्ख है। एवं जो ब्राह्मण अपनी विद्या-बुद्धिका उपयोग केवल अपने ही हितके लिये करता है, वह ब्राह्मण वर्णके प्राप्य सम्मानके योग्य नहीं है, वह पतित है।

महाभारतकारके इन आक्षेपोक्तियोंसे यही प्रकाश होता है कि उस प्राचीन कालसे ही ब्राह्मणोंमें समाज-सेवा ज्ञानका लोप हो चुका था।

गणेश—पाश्चात्य देशोंके विद्वानोंने विज्ञान-बलसे अपनी अपनी जातिकी जैसी उन्नति की है वैसी ही अपने देशकी उन्नति ब्राह्मणोंको करनी चाहिये, ऐसा सिद्ध करनेके लिए आपने महाभारतके यक्ष-युधिष्ठिर सम्वादका तथा वेद मन्त्रोंका जैसा युक्ति सहित अर्थ किया वह आपकी कपोलकल्पना है अथवा पण्डितोंको भी मान्य है, इसमें मुझे शङ्का है।

मायानन्द—तुममें अथवा किसीभी श्रोतामें ऐसी शङ्काका होना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि वेद, पुराण, स्मृति, दर्शन इत्यादि जितने आर्य ग्रन्थ हैं, कहीं भी स्पष्ट रूपसे उनमें ऐसा नहीं लिखा है कि " समाजकी सेवा करना समाजके मनुष्योंका परम धर्म है, प्रत्येक व्यक्ति समाजका सेवक है, और समाज, समाजके प्रत्येक मनुष्यका पोषण करनेवाला है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह अपनी आर्थिक, शारीरिक और मानसिक शक्तिके अनुसार समाजकी उन्नतिकी चेष्टा करे।" यह स्पष्ट क्यों नहीं लिखा गया, इसका कारण कदाचित् यह हो कि लेखन कलाके आविष्कृत होनेके सैकड़ों वर्ष पूर्व से ही हम लोगोंमें समाज-सेवाका ज्ञान लुप्त हो चुका था। तथापि ऐसा कोई आर्ष ग्रन्थ नहीं है जिसमें समाज-सेवाके विषयमें कुछ न कुछ लिखा न हो। यह अवश्य है कि वह ऐसे शब्दोंमें है कि, जिसको धर्मका गूढ़ तत्व मालूम नहीं उसको बिना टीकाके उनके वास्तविक अर्थका बोध नहीं हो सकता; क्योंकि, जैसे स्थूल वस्तु कालके आक्रमणसे रूपान्तरित होती जाती हैं वैसेही, कालान्तरमें भाषाके शब्दोंके अर्थ-ज्ञानका भी रूपान्तर होता जाता है। परन्तु जो जानता है कि समाजकी स्थिति और उन्नतिके लिए समाज-सेवा, धर्मका आधा अङ्ग है, उसको आर्ष साहित्य और शास्त्र ग्रन्थोंके प्रत्येक पन्नेमें समाज-सेवा विषयक उपदेश ही उपदेश सूझता है। समाजके हितकारी शासनोंका

अग्निहोत्रकी व्याख्या पर शङ्काके निवारणमें वैशेषिकदर्शनके अनुसार धर्मकी व्याख्या।

संग्रह शास्त्र है और **समाजके हितसे जिसका सम्बन्ध है वह साहित्य है** ।

वैशेषिक दर्शनमें महर्षि कणादने धर्मका जो लक्षण निर्णय किया है वह यह हैः—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयसः सिद्धिः सधर्मः ।

अर्थ—जिससे अभ्युदय (और) निःश्रेयसकी सिद्धि होती है वह धर्म है।

अभि + उदय = अभ्युदय,—अर्थ = उदय, उत्थान, मङ्गल, उन्नति, वृद्धि ।

निः + श्रेयस् = निःश्रेयस्,—अर्थ = कल्याण, मोक्ष । श्रेयः शब्दका अर्थ है, मङ्गल, स्वर्गप्रद ।

यह जो साढ़े तीन हाथका सजीव मनुष्य है वह, अन्तःकरण और शरीरका एक मेल है । मनुष्यको अपने शरीर और अन्तःकरणका सुख अभिप्रेत है । यदि प्रत्यक्षमें उसके शरीरको सुख हुआ और आभ्यंतरिक चिन्ताओंके कारण अन्तःकरण असुखी रहा तो उसके लिये वह शारीरिक सुख सुखही नहीं । शरीरके दुःखका बोध रहते हुए अन्तःकरणको आत्मिक सुखका बोध होना भी सम्भव नहीं । अतएव जीवितकालमें यह अपने पूरे मेलका सुख चाहता है । मनुष्यका यही सहज स्वभाव है ।

आस्तिक मनुष्योंका यह विश्वास है कि मनुष्योंकी दो अवस्थायें होती हैं । एक जीवितदशा और दूसरी मरणान्तरकी दशा । इन दोनोंही अवस्थाओंमें मनुष्य सुखसे रहना चाहता है । इस लोकमें—और यदि उसका विश्वास स्वर्गलोकमें है तो शरीर छूटनेके बाद—स्वर्गमें भी, वह सुखी रहना चाहता है । और यदि, मरनेके बाद पुनः इसी लोकमें जन्म होता है, ऐसा वह मानता है तो फिर इसी लोकमें, जन्मान्तरमें भी वह सुखी होना चाहता है । और जो आवागमनसे छुटकारा पानेको याने मोक्षको ही कल्याणप्रद समझता है वह मरणान्तरमें मुक्ति चाहता है ।

मनुष्योंकी ऐसी सुखानुसन्धानकारिणी स्वाभाविक प्रवृत्ति पर विचार करके महर्षि कणाद कहते हैं कि, जिससे मनुष्योंके इहलौकिक और पारलौकिक अभीष्टकी सिद्धि हो, वा शरीर और अन्तःकरणके सुखोंकी युगपत् सिद्धि हो, वह धर्म है ।

---

[1] शब्दोंके अर्थ-ज्ञानके रूपान्तरमें एक दृष्टान्त "साहित्य" शब्दका है । सम् + हित + ष्यञ् = साहित्य । इसका प्राचीन अर्थ था—इष्टसाधक वा हितसाधक गुणका होना । अर्वाचीन अर्थ है—काव्यशास्त्र, शब्दशास्त्र, Literature.

इहलौकिक और पारलौकिक सुख कर्म साध्य है। अतएव धर्म, कर्म सापेक्ष है याने धर्मका रूप कर्म है। अब यही विचार करना चाहिये कि वे कौनसे कर्म हैं, जिनसे धर्म हो सकता है या वे धर्म कहे जा सकते हैं। अर्थात् उन कर्मोंसे लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस्की सिद्धि होती हो अथवा शारीरिक और मानसिक सुखोंकी युगपत् सिद्धि होती हो।

श्रीभगवानके कहे हुए "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवाः।" मन्त्र रूप उपदेशमें ही केवल वह कर्म निहित है जिससे, जातियों और साम्प्रदायिक धर्मोंमें बिना विरोध उत्पन्न हुये ही, मनुष्यमात्रके लिये लौकिक और पारलौकिक अथवा शारीरिक और मानसिक सुखोंकी युगपत् सिद्धिकी सम्भावना है। यह बात तुम तब समझ जाओगे जब हम इस मन्त्रकी व्याख्या कर चुकेंगे। प्रचलित धर्म-कर्मोंमें से तो मुझे कोई भी ऐसे लक्षणयुक्त नहीं दिखाई पड़ता जिसको मैं महर्षि कणादकी कथित परिभाषाके अनुसार धर्म-कर्म कह सकूं।

धर्म और पुण्य कर्मों का भेद।

यदि प्रतिदिन गङ्गा स्नान धर्म-कर्म हो तो इसकी परीक्षा यों करनी चाहिये—कोई मनुष्य किसी ऐसे प्रदेशमें जाकर, गङ्गातट पर बसे जहां कोसों तक मानवकी बूबास न हो। और फिर वह प्रतिदिन गङ्गाजीमें स्नान करता जाय और देखता जाय कि क्षुधा लगने पर अन्न, जाड़ा लगने पर कपड़ा, धूपमें छाता और वर्षामें मकान; तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांचो प्रकारके भोग्य विषय, पांचो ज्ञानेन्द्रियोंके लिये उसे स्वयमेव मिलते हैं वा नहीं। यदि न मिलें तो जानना चाहिये कि गङ्गा-स्नान, वह धार्मिक कर्म नहीं है जिससे मनुष्यको लौकिक सुख मिल सकता हो। मान लिया जाय कि ऐसे गङ्गा-स्नानसे पारलौकिक सुख मिलेगा; किन्तु यह गङ्गा-स्नान रूप कर्म धर्मका पूरा रूप न होगा। क्योंकि इससे इहलौकिक और पारलौकिक सुखोंमें से केवल एक सुख मिला, दोनों सुख न मिले। जब, अन्तःकरण और शरीरके मेलका नाम मनुष्य है, तब यदि इस मेलमें से कोई एक पृथक् हो जाय तो एकको हम लाश और दूसरेको लिंग शरीर कहेंगे। उनमें से किसी एकको भी मनुष्य न कहेंगे। वैसे ही, जिस कर्मसे केवल लौकिक अथवा पारलौकिक सुखकी सिद्धि होती है, उसे 'धर्म' के सिवा और किसी भी नामसे पुकार सकते हैं।

इस तरह प्रत्येक कर्मका, जिसको लोग अब धर्म कहते हैं, विचार करने से ज्ञात होगा कि उसका सम्बन्ध, स्वतः वा परतः, मुख्यतः वा गौणतः, दूसरेके तथा अपने लौकिक अथवा पारलौकिक सुखसे है और उसका आचरण कष्ट साध्यभी है। परन्तु महर्षि कणादके धर्मकी परिभाषाके अनुसार उसमें धर्मके पूर्ण लक्षणका अभाव है, और भगवान् कथित कर्मके सदृश, वह सहज और सर्व-साध्य भी नहीं है।

गङ्गा स्नानही पर पुनः विचार करें। सात्विक भावनायुक्त होकर, गङ्गा स्नान करनेसे सत्वगुणकी वृद्धि होती है। सत्वगुणकी वृद्धिसे तमोगुण का ह्रास, तमोगुणके ह्रास तथा सत्वगुणकी वृद्धिसे स्वार्थपरता कम होकर परार्थपरता रूप सद्वृत्तिका आविर्भाव, सद्वृत्तिके आविर्भावसे दूसरेके अपकार करनेमें सङ्कोच तथा अन्यके उपकार करनेमें उत्साह होता है। अतएव इन बातोंसे धर्मके साथ गङ्गा स्नानका गौण सम्बन्ध हुआ। और स्नानसे शरीर और मनके जो अवसाद दूर हुए एवं शरीरकी निर्म्मलतासे जो आरोग्यकी वृद्धि हुई—इन बातोंसे स्नानके साथ धर्मका मुख्य सम्बन्ध हुआ। परन्तु यदि ऐसा कोई कर्म होता, जिससे दूसरोंका तथा अपना साक्षात् उपकार वा हित एक साथ होता और पुनः उसीसे पारलौकिक श्रेय प्राप्तिकी भी सम्भावना रहती तो वह कर्म महर्षि कणाद कथित धर्मके पूर्ण लक्षण युक्त होता। भगवान श्रीकृष्णोक्त "स्व स्व कर्म" ही केवल एक ऐसा कर्म है जिसके यथोपदिष्ट आचरणसे दूसरोंको तथा आचरण करनेवालेको साक्षात् उपकार वा हित एक साथ होता है और आचरण करनेवालेके पारलौकिक श्रेयःका होनाभी निश्चित रहता है।

धार्मिक कर्मके लक्षण।

जिस क्रियाका फल साक्षात् दूसरेको नहीं पहुँचता ऐसी गङ्गा स्नान रूपी एकाङ्गिक क्रियासे यदि धर्मका सम्बन्ध पाया गया, तो जिनका फल साक्षात दूसरोंको पहुँचता है ऐसी क्रियाओंके साथ धर्मका कितना अधिक सम्बन्ध न होगा ? भूखेको अन्नदान रूप क्रियाका फल भूखेको तत्क्षण मिलता है, और उस भूखेका कष्ट दूर होनेकी भावनासे दाताको सन्तोष रूप साक्षात् फल मिलता है एवं उसकी भूख दूर होनेसे उसे जो सुख होता है उस कारण दाताके लिये सुकृत् वा पुण्यका उदय होता है। अतएव इस प्रकार अन्नदान कर्म धर्मका रूप हुआ।

परन्तु, महर्षि कणादके धर्मकी परिभाषाके अनुसार ऐसा उभयतः साक्षात् फलप्रद कर्म भी धर्मसे गौण सम्बन्ध रखनेवाला है। इस अन्नदान रूप क्रियासे जो मङ्गल वा सुख हुआ वह स्थायी और व्यापक नहीं है। क्योंकि अभी परितृप्त हुआ वह व्यक्ति कल पुनः क्षुधातुर होगा, और परितृप्त अवस्थामें वह समाजकी कोई सेवा करता वा न करता इसका भी कोई निश्चय दाताको नहीं था। सुतरां, ऐसी अनिश्चित दशामें इस अन्नदान क्रियाके साथ समाजके उपकारका भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं पाया जाता, इसलिये यह व्यापक नहीं है। इस कार्यसे केवल व्यक्तिगत सुख और मङ्गलके होनेसे यह पुण्य मात्र है।

परन्तु समाज-सेवा रूप जिन कर्मोंके द्वारा—याने शिक्षण, रक्षण, पोषण वा परिश्रम रूप सेवासे—दाताने अन्नका संग्रह किया था उन कर्मोंमें ऐसे परोपकारक कार्योंका बीज निहित है। सुतरां, जिन कर्मोंमें दूसरोंके लिये तथा अपने लिये सुखका बीज व्यापक रूपसे निहित हो, याने समाजको लौकिक सुख

और व्यक्तिको लौकिक तथा पारलौकिक सुखका होना सम्भव हो, वे ही धर्म-कर्म हैं। इन्हींके आचरणसे आचरणकारी चतुर्वर्ग याने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका भागी होता है। समाज-सेवा रूप कर्मोंका आचरण गीतोक्त विधिवत् निष्काम होकर करना है, याने समाजकी हित चिन्तासे स्व स्व कर्मोंका, याने जीविका निर्वाहोपयोगी कर्मोंका आचरण करना है। ऐसी निष्काम समाज-सेवासे समाजको अभ्युदय (उन्नति) और कर्त्ताको निःश्रेयसकी सिद्धि होती है। और व्यक्ति रूपसे समाजका अङ्ग होनेसे समाजकी सुखोन्नतिसे कर्त्ताको भी सुख होता है। ऐसे ही विचारसे महर्षि कणादने धर्मकी ऐसी परिभाषा की है, ऐसा मानना होगा; अन्यथा कर्त्ताके ही लिये अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होना स्वीकार करने से धर्माचरण कामना परतन्त्र होजाता है। जिससे कर्त्ताको निःश्रेयस (मुक्ति) की प्राप्तिमें बाधा पहुँचती है, एवं महर्षिका वाक्यभी वदतोव्याघात् लक्षणाक्रान्त हो जाता है।

समाजकी उन्नतिसे व्यक्तियोंकी उन्नति और व्यक्तियोंकी उन्नतिसे समाजकी उन्नति ऐसा दोनोंका जो अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है उस पर से यदि कहा जाय कि, व्यक्तिगत उन्नतिको लक्ष्य करके महर्षिजीने " यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः " ऐसा कहा है, तो उसका उत्तर यह है कि, व्यक्तिक उन्नतिके रास्तेमें समाज सेवकोंको कामना परतन्त्र हो जाना पड़ता है, जिससे उनके निःश्रेयसकी सिद्धि नहीं होती और समाजभी उनके लक्ष्यसे भ्रष्ट हो जाता है। सुतरां, इस प्रकारके धर्मसे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी सिद्धि आचरणकारीको न होगी, अतएव धर्मका धर्मत्व ही जाता रहेगा। भारतके अधःपतनका यही एक मुख्य कारण है।

अपनेको और अपने परिवारको छोड़कर और सभोंको सुखी करनेकी चिन्तासे जो स्वकर्म याने जीविकाके निर्वाह योग्य कर्म किया जाता है, वही कर्म सब प्रकारसे धर्म्य माना जा सकता है। क्योंकि उसका वह कर्म परार्थपर है, और यदि पूर्व जन्मका कोई कर्म बाधक न हुआ तो इसी जन्ममें उसका लौकिक अभ्युदय तो होता ही है और वैज्ञानिक विचारसे परलोकमें भी उसका मङ्गल होना निश्चित है। इस लोकमें कैसे उसकी उन्नति होती है इसका समझना कोई कठिन बात नहीं है। कोईभी दुकानदार ग्राहकोंको सन्तुष्ट करनेके अभिप्रायसे अपना माल अच्छा और साफ रखेगा, उचित लाभ जोड़कर उनका मूल्य लगायेगा, और अपनेको ग्राहकोंका सेवक समझ कर उनके साथ अच्छा व्यवहार करेगा तो उसकी बिक्री दिन दूनी रात चौगुनी क्यों न बढ़ेगी ? जो दूकानदार स्वार्थ चिन्तासे भी, इस प्रकारका व्यवहार करते हैं उनकी भी तो उन्नति देखनेमें आती है। अतएव जिस कर्मसे, कर्त्ताको अर्थ और काम रूप पुष्प और फल देनेके लिये, और अपनी शीतल छायामें कर्त्ताको अनन्त विश्राम देनेके लिये, समाजका

अभ्युदय रूप वृक्ष उत्पन्न होता है वही धर्म है। ऐसा मानना सर्वथा युक्ति सङ्गत है।

अभी हम पीछे कह आये हैं कि, पारलौकिक सुख प्राप्ति करना भी कर्म साध्य है। वे कौन से कर्म हैं? इसपर बहुतेरे उपदेश अपने धर्म ग्रन्थोंमें पढ़ने और लोक मुखसे सुननेमें आते हैं और सबको विदित भी हैं। इन सब कर्मोंका सार बुद्ध भगवान्ने "परोपकाराय परमोधर्मः" इस सूत्रसे प्रकाश किया है।

महर्षि कणादके निर्णयके अनुसार मैं इन सब पारलौकिक सुख साधक कर्मोंको पुण्य कर्म कहता हूँ और धर्मके साथ बहुधा इनका गौण सम्बन्ध मानता हूँ। परोपकारक कर्मोंका बीज जिन कर्मोंमें रहता है, परोपकार करनेकी शक्ति और प्रवृत्ति जिन कर्मोंसे उत्पन्न होती है, उनको मैं धर्म कहता हूँ। यदि धन न होगा, बल न होगा, और परोपकार करनेकी प्रवृत्ति भी न होगी तो कहांसे और कैसे परोपकारी कार्य्य (पुण्य कर्म) हो सकेगा? अतएव जिन शिक्षाओंसे धनके उपार्जन करनेको, बलके सञ्चय करनेको और पुण्य कार्य्य करनेकी प्रवृत्ति हममें होती है, वे शिक्षायें ही धर्मकी शिक्षायें हैं। और उन शिक्षाओंके अनुसार कर्मोंमें ही धर्मका प्रकाश है। भारतीय आर्य्यजातिकी समाज-सङ्गठन-व्यवस्था के अनुसार ऐसी शिक्षाओंका प्रचार भार ब्राह्मणों पर है। सुतरां ब्राह्मणोंके ब्राह्मत्व पर विचार करते हुए महाभारतकारने जो शब्द विन्यास किया है उसका तात्पर्य्य जैसा हमने प्रकाश किया है यदि वैसा नहीं है, तथा उसकी पुष्टिमें हमने वेद मन्त्रकी जैसी व्याख्या की है यदि वह सत्य नहीं है, तो उस शब्द विन्यासका एवं उस वेद मन्त्रका धर्म और युक्ति सङ्गत दूसरा तात्पर्य्य एवं अर्थ ही क्या हो सकता है? *

धार्मिक शिक्षा और उसके लक्षण।

अतएव भारतके ब्राह्मणोंके कर्त्तव्यकी अवहेलना पर यक्ष रूपी धर्मने जो आक्षेप सूचक प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें धर्म पुत्र युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंके कर्त्तव्य पर अपना जो धर्म सङ्गत अभिप्राय प्रकाश किया है, हमने उसीकी व्याख्या, पाश्चात्य देशोंके विद्वान लोगोंने विज्ञानबलसे धनके समागमका उपाय आविष्कार करके अपनी अपनी जातिकी जो उन्नति की है उसके दृष्टान्तसे, यथा मति वेद मन्त्रके युक्ति सिद्ध अर्थके द्वारा की है। इसमें शङ्का की कोई बात नहीं है।

---

* "सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्युपायान् यथाविधि। प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयंचैव तथा भवेत्॥ (मनु अ० १० श्लो० २)

अर्थ—सब वर्णोंकी जीविकाका उपाय ब्राह्मण विद्याके द्वारा जाने और अन्यको उपदेश करे और आपभी वैसा हो।

८ परिच्छेद।

समाज-सेवा-ज्ञानके लोपसे केवल पारलौकिक मङ्गल ही धर्मका पूर्ण रूप माना गया है।

मायानन्द—परोपकार वा पुण्य कार्योंके सम्पादनमें धन, बल और प्रवृत्ति, ऐसे तीन साधन हैं। धनसाध्य परोपकार वा पुण्यकार्य धनसे होते हैं। बलसाध्य परोपकार या पुण्यकार्य कर्त्ताके शारीरिक बलसे होते हैं। और इन दोनों—उपकार या पुण्य—कार्योंकी भूमिका ही प्रवृत्ति है। यदि हममें प्रवृत्ति नहीं है तो धन वा बलके रहने पर भी हमसे परोपकार वा पुण्यकार्य न होगा। परन्तु यदि हममें प्रवृत्ति है तो अपने पास धन वा बलके न रहने पर भी हम उनका संग्रह कर सकते हैं। अतएव परोपकार वा पुण्य कर्मोंमें मुख्य होनेसे प्रवृत्ति ही साधिका भूमि और धन एवं बल साधन हैं, ऐसा समझना चाहिये। प्रवृत्ति, शिक्षा सापेक्ष है और बलका उपचय (संग्रह) करना अपने व्यायाम आदि अभ्यासके आधीन है। किन्तु धनका सग्रह करना किसी अकेले मनुष्यके आधीन नहीं है।

परोपकार वा पुण्य कार्योंमें तीन साधन।

मनुष्य सामाजिक जीव है, वह समाजमें रहता है। समाजकी सेवा से ही उसको धन मिलता है। तुम पुस्तकवालेकी दुकानमें पुस्तकें बेचते हो। पुस्तक खरीदनेवालोंसे तुम्हारे मालिकको धन मिलता है और तुम्हारा मालिक तुमको वेतनके रूपमें धन देता है। तुम्हारी आवश्यकताएं जिन लोगोंसे पूरी होती हैं, उन दुकानदार आदि लोगोंको तुमसे धन मिलता है। इस तरह समाजमें धनके प्रचारकी शृंखला जारी है। अर्थशास्त्रमें मुद्रा कोही धन नहीं कहते। किन्तु जिन वस्तुओंसे मनुष्योंकी स्वाभाविक और कल्पित आवश्यकताओंकी पूर्त्ति होती है उनको धन कहते हैं। अतएव ऐसे धनका प्रचार जिस समाजमें जितना अधिक होगा, उतनाही अधिक लौकिक सुख और पुण्य वा परोपकारी कार्य करनेकी सामर्थ्य उस समाजके लोगोंमें अधिक होगी। और, धर्मसम्बन्धी शिक्षाका प्रचार जितना प्रबल रहेगा, उतनी ही अधिक परोपकार वा पुण्य कार्य करनेकी प्रवृत्ति उस समाजके लोगोंमें पाई जायगी।

भारतवर्षमें जब एक रुपयेमें १ मन गेहूँ और १ रुपयेमें ४ सेर घी मिलता था, तब लोग जितना अधिक ब्राह्मण-भोजन कराते थे अब उतना अधिक नहीं कराते हैं। इसका कारण, साधनका अभाव है। साधनके अभावका

कारण अर्थकरी शिक्षाका लोप, और उसका हेतु ब्राह्मणोंकी कर्त्तव्यमें अवहेलना है। इसी भारतवर्षमें पहिले जब कपड़े हाथसे बुने और सिये जाते थे, तब लोग जितने कपड़े पहिनते थे, अब बुनने और सीनेकी कलोंके प्रचार होनेके कारण लोग उससे दश गुना अधिक कपड़े पहिनने लगे हैं। इसका कारण कपड़ा और सीनेकी कला रूपी धनकी वृद्धि है, और उसका हेतु विदेशी विद्वानोंकी कर्त्तव्य-परायणता है। यदि भारतवर्षका ब्राह्मण-समाज ऐसेही अपने कर्त्तव्यमें परायण रहता तो आज दिन हमको आधे पेट खाकर तन ढांकनेकी नौबत न आती। यदि अन्न देकर हमको विदेशियों से कपड़े और सीनेकी कलें आदि न खरीदनी पड़तीं तो भारत आज दिन अन्न से परिपूर्ण रहता।

जबसे ब्राह्मणोंमें समाज-सेवा ज्ञानका लोप हुआ है, तबसे उनकी समझमें व्यक्तिगत पारलौकिक मंगल ही, धर्मका पूर्ण रूप हो रहा है। इसीसे, इन्होंने वैराग्य उत्पन्न और पुण्य कार्य करानेवाली प्रवृत्ति बढ़ानेकी शिक्षा देना ही अपना कर्त्तव्य मान रखा है; और इसीमें वे यत्नशील भी रहते हैं[1]। परन्तु वृक्षकी जड़ काटकर डाल पर पानी सींचना, जैसे वृक्षको फूल फलसे शोभित करनेमें सर्वथा असमर्थ ही नहीं होता, प्रत्युत वृक्षको सड़ा देता है; वैसेही सामाजिक अभ्युदयके साधनोंके संग्रहके उपायोंकी शिक्षाके अभावसे ऐसे पुण्य कार्योंकी शिक्षा निष्फल हो रही है, इतना ही नहीं बल्कि यह समाजको उत्तरोत्तर दरिद्र बना रही है।

धर्मका प्रत्यक्ष फल है समाजकी उन्नति और अप्रत्यक्ष फल है समाज सेवकों की मुक्ति।

जिस समाजमें जितना अधिक धन होता है उस समाजको अन्य समाजके लोग उतनाही अधिक उन्नत, और निर्धन समाजको हीन समझते हैं:—जैसे यूरोप निवासी भारतवासियोंको गरीब जानकर हीन समझते हैं। ऐसे जातीय अपमानसे बचनेके लिये वैदिक युगके ऋषि लोग प्रार्थना किया करते थे—"हे इन्द्र! 'गोधनादि वैभव हमारे पास बहुत हैं, हमारा सामर्थ्य बड़ा है और हम दीर्घायु हैं' इस प्रकारकी हमारी कीर्त्तिका सर्वत्र प्रचार हो और वह कभी खण्डित न हो" (ऋग्वेद म० १ सू० ६ मं ७—श्रुतिबोध)। अतएव धन, समाजकी उन्नतिमें एक हेतु है, और उन्नत समाज अपने आश्रित मनुष्योंके सुखका हेतु है। इसलिये समाजकी उन्नत दशा (अभ्युदय) धर्मका प्रत्यक्ष फल है, और समाज सेवकोंको निःश्रेयस् (पारलौकिक कल्याण अथवा मुक्ति) की प्राप्ति

[1] "दानमेकं कलौ युगे" मनुस्मृति अ० १।८६।

होना धर्मका अप्रत्यक्ष फल है। ऐसे दोनों फलोंके प्रदाता धर्म वृक्षका उपादान निष्काम समाज-सेवा और ब्रह्मज्ञान है। *

समाजके अभ्युदयके लिये भारतवर्षमें वर्णाश्रमधर्म या समाजसेवा की व्यवस्था चलाई गई थी। और उसी रास्तेसे समाजसेवकोंको निःश्रेयस्की प्राप्ति होनेके लिये ब्रह्म वा आत्मज्ञानका प्रचार हुआ था। परन्तु कालकी महिमासे वर्णधर्मका जाति-विचारमें, और आत्मज्ञानका सन्यासमें पर्यवसान हो गया है।

पहिले हमने समाज-सेवाकी व्यवस्था पर यथा साध्य विस्तार पूर्वक आलोचना की है। यदि तुमने उसको समझा होगा तो तुम्हारी समझमें यह बात आगयी होगी कि समाज-सेवाही धर्माचरणका एक प्रकृत उपाय है। जिसको धर्माचरण वा धर्म-कर्म करना है उसको समाजकी निष्काम सेवा करनी चाहिये। क्योंकि धर्मका स्थिति-स्थान (रहनेका मुख्य स्थल) अथवा स्वयं धर्मका रूप, समाजही है। ऐसे धर्म और धर्माचरण दोनोंकी स्थिति, शिक्षा पर निर्भर है। क्योंकि, बिना शिक्षाके निष्काम समाज-सेवा रूपी धर्माचरण की सम्भावना नहीं, और बिना निष्काम समाज-सेवाके,समाजकी सच्ची उन्नति होनी सम्भव नहीं और न समाज सेवकोंकी मुक्ति ही सम्भव है †। अतएव धर्मके यावत् विषयों वा उपादानोंका मूल, शिक्षा रूपी समाज-सेवा है ऐसा सिद्ध हुआ। भारतवर्षमें, वर्णव्यवस्थाके अनुसार, इस मूलके आधार, ब्राह्मण हीं हैं; और अन्य देशोंमें उन्हीं देशोंके विद्वान्।

अब निष्कामता वैराग्यके बिना उत्पन्न नहीं होती ऐसा स्वाभाविक नियम होनेसे, निष्काम समाज-सेवाके लिये वैराग्यकी शिक्षाकी भी आवश्यकता है। किन्तु, जैसे अन्नसे जीवन रक्षा होने परभी उसके अयथोचित आहारसे जीवन संहारक रोग उत्पन्न हो जाते हैं; उसी तरह भारतवर्षमें दुर्भाग्यवश वैराग्यकी शिक्षा मर्यादातिरिक्त होजानेसे वैराग्यका शिक्षादाता ब्राह्मणवर्ण स्वयं ब्राह्मणत्वसे हीन हो गया। और धर्मका एक अंग जो सामाजिक अभ्युदय है वह उसकी दृष्टिसे च्युत हो गया। एवं व्यक्तिगत निःश्रेयस्—याने मुक्ति अथवा पारलौकिक श्रेय ही—जो कि धर्मका दूसरा अंग है—धर्मके पूर्ण रूपके सदृश उसको भासने लगा है।

उचित शिक्षाके अभावके कारण जबसे हमलोगोंमें समाज-सेवा ज्ञानका लोप हुआ तबसे पुण्य कर्मोंको याने व्यक्तिगत पारलौकिक श्रेयस्साधक

* ईशोपनिषद् मं० १ देखो, जिसका आलोचन गीताके १८ अ० के ४६ वें मन्त्रकी व्याख्यामें किया गया है।

† मोक्ष प्रकरणमें इसका कारण देखिये।

कर्मोंको ही हम धर्म मानने लग गये। जिससे हमारा सारा कर्म स्वार्थपर हो गया। यहां तक कि जिस समाजके आश्रयमें उत्पन्न और पालित होकर हम युवावस्थाको पहुँचे, उस समाजका ऋण न चुका करके ही, अपने निःश्रेयस्के लिये पुण्य कर्मों तक का त्याग करना श्रेष्ठ धर्म मानने लग गये हैं। इससे जो सामाजिक अधर्मकी उत्पत्ति होने लगी उसके भावी कुफलसे हमको सतर्क (सावधान) करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान्का अवतार हुआ। ×

व्यक्तिगत पारलौकिक श्रेयः को ही पूर्ण धर्म समझना ब्राह्मणोंमें तथा अन्य लोगोंमें कब से आरम्भ हुआ इसका कोई पता नहीं। किन्तु लोगोंके ऐसे भ्रम पर महाभारतकारने युधिष्ठिरके मुखसे प्रकृत धर्मके अनुसन्धानमें जिन प्रश्नोंको कहलाया है और ब्राह्मणोंके ऐसे भ्रम पर महाभारतकारने (तुलाधार-) आजलिके उपाख्यानमें जो आक्षेप प्रकाश किया है, उनका कुछ रहस्य, शान्ति पर्वके २५९, २६१-२६४ अध्यायोंसे यहां बताया जाता है।

प्रकृत धर्मके निर्णय पर भीष्म-युधिष्ठिर सम्वाद।

शान्तिपर्व अ०, -२५९—युधिष्ठिर महाराजने भीष्मसे पूछा "हे पितामह! अल्पबुद्धि मानवगण धर्म और अधर्मके निर्णयमें असमर्थ हो रहे हैं। अतएव मैं आपसे पूछता हूँ कि—(१) धर्म क्या पदार्थ है और—(२) किससे उत्पन्न होता है ? (३) इस लोकमें मंगल प्राप्तिके लिये जिन कार्योंका अनुष्ठान किया जाता है क्या वे ही धर्म हैं ? वा, (४) परलोक के लिये जिन कार्योंका अनुष्ठान किया जाता है उनको धर्म कहना चाहिये ? अथवा, (५) इस लोक और परलोक इन दोनों लोकोंके लिये जिन कार्योंका साधन किया जाय वे ही सचमुच धर्म हैं ?"

युधिष्ठिर महाराजकी उक्तिमें "धर्म" और "अधर्म" ये दो शब्द आये हैं। यहां "धर्म" का अर्थ है मनुष्योंके उन कर्मोंसे जिन पर उनके लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक मंगल (निःश्रेयस्) अवलम्बित हों। ऐसे कर्मोंका करना प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य होनेसे उनकी गिन्ती धर्ममें होती है। "अधर्म" शब्द का अर्थ यहां 'पापकर्म' नहीं है किन्तु 'अकर्त्तव्य कर्म,' है। अर्थात् जो कर्म किसी एक विचारसे तो कर्त्तव्य हो और किसी अन्य विचारसे अकर्त्तव्य हो। यथा—अर्जुनने युद्धको पाप कर्म समझकर अपने पारलौकिक मङ्गल साधनके लिये सन्यासको कर्त्तव्य कर्म समझा था और श्रीकृष्णने समाज-सेवाके आधार पर सन्यासको उनके लिये अकर्त्तव्य ठहराया। अतएव "अधर्म" का अर्थ यहां 'विकर्म' याने मोहसे उत्पन्न कर्त्तव्य ज्ञान वा 'अप्रशस्त कर्म' *(जो सभी दृष्टिसे प्रशंसनीय न हो) है।

× इसका पूरा विचार हम गीताके उत्पत्ति विषयक सम्वादमें प्रकाशित करेंगे।

युधिष्ठिर महाराजने पांच प्रश्न किये हैं। पहिला प्रश्न है—धर्मके गुण, फल या उपयोगिताके विषयमें। दूसरा प्रश्न है—धर्म की कसौटी क्या है? याने किस बातकी अपेक्षासे मनुष्योंके कर्त्तव्योंका निर्णय किया गया है? तीसरा प्रश्न है—मनुष्योंको केवल अपने ("अपने" शब्दमें परिवार वर्ग भी शामिल है) लौकिक मङ्गलके लिये (दूसरोंको किसी प्रकारका दुःख न पहुँचा कर भी) कर्म करना क्या धर्म (कर्त्तव्य) है? चौथा प्रश्न है—मनुष्योंको केवल अपने पारलौकिक मङ्गलके लिये कर्म करना क्या धर्म (कर्त्तव्य) है? यह प्रश्न सन्यास पर दृष्टि रखकर किया गया है। पांचवा प्रश्न, वैशेषिक दर्शनोक्त धर्म-लक्षण "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः" का अनुवाद है। इस प्रश्नमें जो "सचमुच" शब्दका उपयोग हुआ है उससे यह शङ्का प्रकट की गई है कि प्रत्येक मनुष्यका अपना (परिवार वर्ग का भी) इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक मंगल-साधन करनाही यदि धर्म है, तो इससे धर्म शब्द की व्युत्पत्तिसे—धृ+म—अर्थात् जो सब मनुष्योंको धारण करता है याने पालन, पोषण और रक्षण करता है—जो अर्थ निकलता है क्या वह सिद्ध होगा?

युधिष्ठिर महाराजके प्रश्नोंके आशयको, और "समाज सेवाके ज्ञानके लोप" की जो कथा मैं कह रहा हूँ, उनके समझनेके लिये यह जानलेना अच्छा होगा कि महाभारतमें शान्तिपर्व क्यों लिखा गया।

भारत-युद्धकी समाप्ति होने पर जब पांचों पाण्डव हस्तिनापुरके बाहर एक मासका × अशौच मना रहे थे, उस समय अनेक ऋषि मुनियोंका समागम हुआ था। युधिष्ठिर महाराजको जब लोग विजयकी बधाई देनेको आये थे, उस समय युधिष्ठिर व्याकुल होकर अपनेको युद्ध और ज्ञातिवधका कारण मानते हुए रोने लगे और अन्तमें अर्जुनसे आपने कहा "अब मैं तुम लोगोंसे विदा लेकर मुनिवेश धारण करके वन का आश्रय लूंगा"। उपस्थित लोगों-(श्रीकृष्ण महाराजके सिवा द्रौपदी, कुन्ति और चारों भाई से लेकर महर्षि व्यास तक) ने समझाया कि आप सन्यास न लें, पर युधिष्ठिर महाराजने किसीका कहना न माना और सबकी बात काटते गये। इस वादविवादका वर्णन ३७ अध्यायोंमें हुआ है, इसीसे तुम समझ जाओगे कि सभी प्रकारकी नीति कथायें इस प्रसंगमें आगई हैं, पर युधिष्ठिर महाराजको कुछ भी सन्तोष न हुआ। वेदव्यासजीने अन्तमें अश्वमेध यज्ञके द्वारा पापका प्रायश्चित्त करनेका उपदेश दिया। युधिष्ठिर महाराज, सङ्कोच वश अर्ध सहमत हुए और

× इस कालमें द्विजवर्ण १३ दिनका अशौच मानते हैं। उस कालके द्विज वर्णोंमें क्षत्रिय वर्णको १ मासका अशौच मानना पड़ता था, महाभारत--शान्तिपर्व पहिला अध्याय देखिये।

कहा "आपसे प्रायश्चित्तकी कथा सुनकर मेरे अन्तःकरणमें अत्यन्त हर्ष और कौतुक उत्पन्न हुआ है। धर्मचर्य्या और राज्यरक्षा ये दोनों कार्य्य परस्पर विरुद्ध हैं। अतएव एकही व्यक्ति धर्मकी रक्षा और राज्यभार वहन, ये दोनों काम किस प्रकार कर सकता है, यही चिन्ता मुझे वारम्बार विमोहित कर रही है।" युधिष्ठिरकी इस बातसे यह सिद्ध हो रहा है कि इन ३७ अध्यायोंके ८१ पृष्ठोंमें कहीं भी स्पष्ट रूपसे समाज-सेवा धर्मका (गीतोक्त धर्मका) विवेचन या उल्लेख नहीं हुआ है। महाभारतकारने इस वादविवादमें श्रीकृष्ण महाराजको भागलेने ही नहीं दिया, किन्तु और जितने ऋषि मुनि वहाँ थे सबसे धर्मोपदेश करवाया!

युधिष्ठिर महाराजकी इस अन्तिम शङ्काको सुनकर वेदव्यासजीने कहा "वत्स, यदि तुमको सब धर्म-विषयोंको सुनना है तो कुरुकुल पितामह भीष्म जो युद्ध क्षेत्रमें शरशय्या पर पड़े हैं, उनके पास चलो।" युधिष्ठिर महाराजने युद्धकी कथा स्मरण करके अपना सङ्कोच प्रकाशित किया। तब यदु कुल भूषण हृषीकेश (गीता धर्मके प्रचारक श्रीकृष्ण) ने चारों वर्णोंके हितसाधन करने के लिये युधिष्ठिर से कहा कि "हे महाराज! अपने राज्यके **चारों वर्णोंके हितसाधन** *, अमिततेजा व्यासदेवजीकी

* भीष्मजीके पास महाराज युधिष्ठिरके उपस्थित होने पर देवर्षि नारदने इस प्रकार प्रसंग उठाया "महात्मा भीष्म जीवन त्यागने वाले हैं। इन्हें चारों वर्णोंका धर्म मालूम है। अतएव आप लोग प्रश्नोंके द्वारा अपनी अपनी शंकाओंका समाधान कर लीजिये"। इस पर महाराज युधिष्ठिर ने कृष्ण भगवान् से प्रार्थना की कि आप भीष्मजीसे धर्म विषयक प्रश्न करें। कृष्ण भगवान् ने भीष्मजीसे कहा "महाराज युधिष्ठिर आपसे सनातन धर्म के विषयमें कुछ जानना चाहते हैं परन्तु लज्जावश प्रश्न करने में सकुचाते हैं।" भीष्मजीने उत्तर दिया कि, दान, अध्यन और तपस्या जैसे ब्राह्मणोंका उत्कृष्ट धर्म है वैसाही क्षत्रियोंका संग्राममें शत्रुका संहार करना ही परम धर्म है। अतएव, युधिष्ठिर निःसंकोच प्रश्न करें। (महाभारत शान्तिपर्व अ० ५५)

युधिष्ठिर महाराजका पहला प्रश्न (अ० ५६ में लिखा है)—"धर्मज्ञ महात्माओंका कहना है कि राजाओंके लिए राजधर्म ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। किन्तु इस धर्मका निवाहना कठिन है। अतएव आप इसी धर्मका विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये। धर्म, अर्थ, कामके साथ इसका विशेष सम्बन्ध है और उसीमें

अनुशा पालन और हम लोगों एवं द्रौपदीके अनुरोधकी रक्षा करनेके लिये महावीर भीष्मके निकट जाइये।" इस प्रकारसे प्रकृत धर्म वा धर्मों को समझनेके लिये और उनके मनमें जो युद्धमें ज्ञातिवध जनित पापाशङ्का समा गई थी उसे दूर करने के लिये युधिष्ठिर महाराज, भीष्मजीके पास जाकर उक्त प्रकारके प्रश्न किये हैं। उन प्रश्नोंके सरल और उचित उत्तर इस प्रकार हैः—

युधिष्ठिरके प्रश्नोंके अनुसार धर्म वस्तु पर विचार।

(१) धर्मके रूप वे कर्म हैं जिनके द्वारा समाजका पालन और व्यक्तियोंका पारलौकिक मंगल होता है। इन कर्मोंके समूहका नाम धर्म है। अतएव धर्म समाजका पालक और व्यक्तियोंका पारलौकिक मंगल दायक है।

(२) धर्मकी उत्पत्ति का स्थान समाज है। मनुष्य एकत्र होकर रहते हैं। इस एकत्रित मनुष्य मण्डली वा समाजकी उन्नति और

मोक्षधर्म भी सन्निविष्ट है। नरपति यदि राजधर्म के प्रतिपालनमें अक्रम हो तो लोक समुदायमें बड़ी विशृंखला उत्पन्न होती है।"

इसके उत्तरमें यदि गीता-धर्मका उपदेश दिया गया होता तो युधिष्ठिर महाराजकी शंकाका समाधान हो गया होता। युधिष्ठिर महाराजके प्रश्न के ढंगसे ही समझ पड़ता है कि उत्तर किस प्रकारका होना चाहिये था। किन्तु भीष्म पितामहने उत्तर देना इस प्रकारसे आरम्भ किया—"राजाका सबसे पहला कर्त्तव्य है कि वह देवता और ब्राह्मणोंको संतुष्ट करनेका विधिवत् यत्न करे। देवता और ब्राह्मणोंके यथोपयुक्त उपचार व पूजा करनेसे, राजा गण धर्मके ऋणसे विमुक्त होकर सबके आदरणीय होते हैं।" मानो उनके कर्त्तव्य की इतने ही से इति श्री हो जाती है! आगे उनके लिये जो कुछ शेष कर्म रह जाता है वह प्रजासे लगानका पैसा वसूल करना, क्योंकि बिना पैसेके देवता और ब्राह्मणोंकी यथोपयुक्त उपचार से पूजा नहीं हो सकती। ऐसे ही उपदेश भारतको पराधीनता के गड्ढे में डालने के कारण हुए हैं। भला ऐसे उपदेशों से महराज युधिष्ठिरको कब सन्तोष हो सकता था। महाभारतमें क्षेपक कथाके रूपमें पण्डितगण् जैसे जैसे प्रश्न युधिष्ठिरसे कराते गये वे प्रश्नों पर प्रश्न करते गये। इस तरह अ० ६० से लेकर २५८ अ० तक प्रश्नोत्तर होने पर भी जब प्रकृत धर्मका निपटारा नहीं हुआ तब २५९ अ० में नये सिरेसे "धर्म" पर युधिष्ठिर महाराज का प्रश्न हुआ।

पालनके लिये और ऐसे समाजके व्यक्तियों के पारलौकिक मंगलके लिये, जिन कर्मोंकी आवश्यकता होती वे कर्म, धर्म कहाते हैं। ऐसे धार्मिक कर्मोंकी उत्पत्ति मनुष्य समाजसे ही होती है और उन कर्मोंके करनेवाले उस समाजके व्यक्ति ही हैं। इसलिये धर्मकी उत्पत्तिका स्थान समाज ही है। किसी स्थानमें एकत्र रहकर और एक दूसरे के सहायक होकर जीवन निर्वाह करनेवाले व्यक्तियोंका समूह, समाज वा जाति कहाता है। उक्त धार्मिक कर्मोंसे इस समाज वा जातिका लौकिक अभ्युदय याने उन्नति और पालन होता रहता है। इस प्रकार समाज वा जातिके अभ्युदयसे व्यक्तियोंका भी अभ्युदय होता है।

(३) मनुष्य केवल अपने और परिवारवर्ग के ही लौकिक मङ्गल याने अभ्युदय वा सुखोन्नतिके लिये जो कर्म करता है वह धर्म नहीं है। वह उसका जीविकार्जन कर्म है और उद्यम है। इस पर यदि वह व्यक्ति, मृत्युके बाद दूसरे जीवन पर विश्वास न रखने के कारण पारलौकिक मंगल के लिये कोई कर्म न करनेसे अपना अमंगल करता है, तो वह अधर्मी है। समाजमें रहकर जो मनुष्य, अपनी और अपने कुटुम्बका भरण-पोषणकी ही चिन्तासे जिस कर्म और उद्यम से जीविकार्जन करता है, वह कर्म समाजकी सेवा होनेके कारण धर्म होते हुए भी उसकी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक नहीं होता। अर्थात् स्वार्थ चिन्ताके कारण उसकी आत्मिक अवनति होती है सुतरां वह, धार्मिक कर्म करता हुआ भी अधर्म याने अकर्त्तव्य कर्म ही करता है।

पक्षान्तरमें, यदि जीविकार्ज्जन कर्म और उद्यम समाजकी सेवाकी भावनासे किये जांय तो वही कर्म, धर्म संज्ञाको प्राप्त होता है। ऐसा कर्त्ता यदि परलोकका विश्वासी न भी हो तथापि उसकी आत्मिक अवनति नहीं होती। क्योंकि उसमें स्वार्थ चिन्ता न रहने से और परार्थ की चिन्ता रहने से उसकी बुद्धि सात्त्विक भूमिका पर स्थिर रहती है और परलोकमें उसे मंगल प्राप्त होता है।

(४) धर्मके दो अंग हैं—समाजका लौकिक मंगल और व्यक्तियोंका पारलौकिक मंगल। व्यक्तियोंके द्वाराही इन दोनों अंगोंका आचरण किया जाना चाहिये। याने, धर्मके आचरण करने वाले व्यक्ति ही होते हैं। अतएव जो मनुष्य केवल अपने पारलौकिक मङ्गलके लिए कर्म करता है उसका कर्म अपूर्ण धर्म है। व्यक्तिके लिए, समाजका मंगलकारी कार्य्य करना "परार्थ" है और अपने लिये पारलौकिक मंगलकारी कर्म करना "स्वार्थ" है। इस दृष्टिसे वह मनुष्य अधर्म करता है याने अप्रशस्त कर्म करता है। समाजमें जो मनुष्य उत्पन्न होता और वृद्धि प्राप्त करता है यदि वह अपने गुण कर्मानुसार

समाजकी सेवा न करके, अपना पारलौकिक मङ्गल साधन करनेका प्रयत्न करता है तो वह नैतिक दृष्टिमें कर्त्तव्य की अवहेलना के कारण अपराधी होता है। किन्तु यदि ऐसा व्यक्ति समाजके दानसे अपना भरणपोषण करके भी यदि उसके बदले में समाजकी कुछभी सेवा न कर, अपना ही पारलौकिक मङ्गल साधता जाय तो वह पापका भागी होता है। और जिस समय समाजकी ऐसी अवस्था हो, जब कि उसके अङ्ग स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की सेवाकी उसे आवश्यकता है तो, उस समय जो व्यक्ति समाजके दानसे अपना भरण पोषण करता हुआ भी उसकी सेवासे विमुख रहता है, चाहे वह अपने पारलौकिक मङ्गलके लिए कितना भी कठिन भगवद्भजन क्यों न करता हो, महा पापका भागी होता है †।

इस समय गृहस्थाश्रमी के पारलौकिक मङ्गल साधक कर्मोंके विधान की बहुलता पाई जाती है। उसका कारण यह है कि स्वभावतः मनुष्यमें राजस् और तामस् वृत्तियोंकी ही प्रबलता है इसलिये उनमें सात्विक वृत्तिकी वृद्धि करने के अभिप्रायसे पारलौकिक मङ्गलके साधन पर विशेष जोर दिया गया है। जीविकार्जन कर्म और उद्यम मात्र समाजकी ही सेवा है, सो तो गृहस्थ मात्र करते ही आते हैं, समाजका काम तो चलता ही जाता है। यदि इन कर्मों को धर्मका रूप दे दिया जायगा तो वे निष्काम होनेके बदले इस धर्मकी ओटमें अधिक राजसिक और तामसिक हो जायेंगे। इस भयसे पारलौकिक कर्मोंको शास्त्रकारोंने धर्म बतलाया है।

(५) इसी लोकमें फल प्राप्तिकी आशासे धर्मशास्त्रानुमोदित जितने कामना मूलक कर्म हैं वे प्रकृत धर्म नहीं हैं, गौण धर्म हैं। पारलौकिक मङ्गलकी आशासे धर्मशास्त्रानुमोदित जितने कामना मूलक कर्म हैं और आवागमनसे छुटकारा पानेके लिये वा भगवत्प्राप्तिके लिये जितने तप रूपी साधन हैं, सब धर्मके अङ्ग मात्र हैं। धर्माचरणकी भावनासे अभी लोग जो कुछ कर रहे हैं उन कर्मोंकी समष्टि धर्मका आधा अङ्ग मात्र है। क्योंकि श्रुति-स्मृतिके विधानानुसार सोलह संस्कार; सन्ध्योपासना, जप, तप, नित्य कर्म, यज्ञ होमादि नैमित्तिक कर्म; पुराणोक्त व्रत और उपवासादिकर्म; तन्त्रोक्त देव पूजादि कर्म इत्यादि, जितने कर्म धर्म-कर्मके नामसे प्रख्यात हैं, सबके सब व्यक्तिगत लौकिक और पारलौकिक मङ्गलसे सम्बन्ध रखते हैं। इनमेंसे कुछ कर्म ऐसे हैं जो व्यक्तिगत पारलौकिक मङ्गलकी प्राप्ति करानेमें स्वतन्त्र हैं। शेष सबके सब व्यक्तिगत लौकिक मङ्गल की प्राप्ति करानेमें परतन्त्र हैं। मैं

† इस समय, जबकि, स्वराज्यके पीछे हिन्दुजाति पर घोर आपत्ति उपस्थित है, ५६ लाख साधु सन्यासियों का देश सेवा से उदासीन रहना, उक्त सिद्धान्तके अनुसार, महापापका भागी बनना है।

इस कथन को दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—जैसे वेदके अनुयायी 'वेदके स्वाध्यायसे स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध होते,' मानते हैं * वैसेही तन्त्रके अनुयायी भी चण्डी के स्वाध्याय से स्वार्थ, परमार्थ दोनों सिद्ध होते हैं ऐसा मानते हैं। १६०४ ई० में मुझे उड़ीसामें एक प्रौढ़ बङ्गाली ब्राह्मण मिला था, जो नौकरी की तलाशमें भटकता फिरता था। वह अपने जीवन की कथा कहता हुआ मुझसे कहने लगा कि "मैं चण्डी (देवी भागवत) का स्वाध्याय किया करता था। एक समय, जबकि मैं पैसे से तङ्ग था, उसी शहरके किसी रास्ते में मैंने एक सोनेका हार पड़ा पाया, उसे मैंने उठा लिया और अपने मनमें देवी को इस धनके दिलाने के लिये धन्यवाद दिया"। मैं उसके विचारको सुनकर मनहीमें हँस कर चुप रह गया। आगे उसने उस सोनेके हार का क्या उपयोग किया मैंने सङ्कोच से नहीं पूछा, क्योंकि वह मुझसे उमरमें बड़ा था। यदि देवी को उस ब्राह्मणको द्रव्य देना अभिप्रेत था तो उसके घर पर ही आवश्यक द्रव्य पहुँचवा देती। पड़ा पाया हुआ सोनेका हार तो दूसरेकी कमाईसे बना था और उसके दुर्भाग्यसे वह खो गया था। यही ब्राह्मण, जिस समय वह मुझे मिला था, नौकरीकी तलाश में व्याकुल था!

ऐसे मनुष्य भी हैं, जो बड़े नियम से पूजा पाठ करते हैं और अपने मालिकको ठगकर धनी हो जाते हैं और मनका प्रबोध करते रहते हैं कि, पूजा पाठकी बदौलत ही उनके घरमें धनकी वृद्धि हो रही है। विना उद्योग, परिश्रम, सत्यव्यवहार और परोपकारके, केवल नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मादि लोक प्रसिद्ध धार्मिक कृत्यों से किसीका लौकिक मङ्गल, जिसमें भोजन और वस्त्रका प्रश्न मुख्य है, सिद्ध नहीं हो सकता ×। लौकिक मङ्गलके लिये स्वतत धार्मिक कृत्योंके करने वाले ब्राह्मण को भी उद्यम और परिश्रम करने पड़ते हैं, क्योंकि भोजनाच्छादनके सिवाय नैमित्तिक और काम्य कर्म भी तो विना द्रव्यके नहीं होते।

अतएव, इस लोक—याने समाजकी सुखोन्नति—के लिए जो कुछ कर्म किया जाय, चाहे उससे जीविकार्जन भी क्यों न होताहो, और अपने पारलौकिक मङ्गलके लिये जो कुछ कर्म किया जाय, ये दोनों मिलकर धर्मके पूर्ण स्वरूप

---

* पं० भीमसेन शर्म्मा कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका पृ० १२ में ४७ वें श्लोक का अर्थ देखिये। "ते तृप्तस्तर्पयन्त्येनं सर्वै काम फलैः शुभैः।" वे तृप्त वा सन्तुष्ट हुए देव और पितर इस स्वाध्याय करने वाले द्विजको सब प्रकारके शुभ कामनाओंसे पूर्ण करके सन्तुष्ट करते हैं।"

× ७ वें परिच्छेदमें द्रौपदी-युधिष्ठिर सम्वादमें महाभारतकारकी सम्मति देखिये।

होते हैं। इस पूर्णरूप धर्मका आचरण करना ही मनुष्य मात्रका कर्त्तव्य है। आर्य जातिका समाज चार वर्णोंसे संगठित है। प्रत्येक वर्णके लिये जो भिन्न भिन्न कर्म निर्दिष्ट हैं वे कर्म ही समाजकी सुखोन्नतिके आधार हैं, और व्यक्तियोंके जीवनयात्राके साधन हैं। जो व्यक्ति अपने जीवनयात्रा के साधन रूपी कर्मको, समाजकी सेवा समझकर जीविकार्जनकी कामनासे रहित होकर, करता है और अपने पारलौकिक मंगलके लिए शास्त्र निर्दिष्ट कर्मोंका साधन करता है वह प्रकृत धर्मका पूरा आचरण करता है। जिसके फल स्वरूप इस लोकमें उसका और उसके पोष्यवर्गोंका पालन होता है और मृत्युके बाद परलोकमें वह सद्गति प्राप्त करता है।

प्रकृत या मुख्य धर्म का निर्देश।

मनुष्यके लिये समाजकी सेवा करना ही प्रकृत धर्म है। क्योंकि समाजस्थ मनुष्योंके पारस्परिक सेवा-कर्मों पर ही समाजका श्रेयः अवलम्बित है *। इन्हीं पारस्परिक सेवा कर्मोंके फल स्वरूप लोगोंको सुख और जीवन निर्वाहकी सामग्री मिलती हैं, जिससे उनका पालन होता है। इसीसे धर्मका अर्थ हुआ है—जो मनुष्योंको धारण करता है। किन्तु इसी एक प्रकृत और मुख्य धर्मके आचरणसे, शास्त्र निर्दिष्ट पारलौकिक मंगल साधक अन्य कर्मोंके बिना किए ही, मनुष्य परलोकमें स्वर्ग या तद्रूप उत्कृष्ट फल प्राप्त कर सकता है।

युधिष्ठिरके प्रश्नोंके उत्तरमें भीष्मपितामह द्वारा धर्मका वर्णन

युधिष्ठिर महाराजके प्रश्नोंके उत्तरमें भीष्म पितामहने जिस प्रकार धर्मका वर्णन किया है, वह आगे बतलाउंगा और साथ ही उन पर टीका भी करता जाउंगा, जिससे वे उत्तर तुम्हारी समझमें आते जाँय। भीष्मजीके उत्तरोंके साथ अब ऊपर कहे हुए मेरे उत्तरोंका मिलान करोगे तब तुम्हें यह ज्ञात हो जायगा कि, भीष्मजीको अवलम्बन करके महाभारत-कारने उस समयमें प्रचलित धर्म सम्बन्धी मत-मतान्तरोंको प्रकाशित किया है। युधिष्ठिरके प्रश्नोंसे प्रकृत धर्मकी अनुसन्धान-प्रवृत्ति प्रकाशित होती है। अतएव उत्तरमें जब भिन्न भिन्न मतोंकी आलोचना करके किसी एक मत पर जोर नहीं दिया गया है तब, उन उत्तरोंके किसी एकमें प्रकृत धर्मका परिचय रहते हुएभी हमको यही कहना पड़ेगा कि जिस समय महाभारतमें "युधिष्ठिर-भीष्म संवाद" याने शान्तिपर्वका २५१ वां अध्याय जोड़ा गया है, उस समय समाज-सेवाकर्म याने समाज विहित जीविकार्जनी वृत्तियां धर्ममें नहीं गिनी जाती थीं; जैसे कि इस समयभी नहीं गिनी जाती हैं; यद्यपि इस समय

* गीतानुशीलन प्रथम खण्ड ३ परिच्छेद देखिये।

राष्ट्रीय-जागृति और आन्दोलनके दिनोंमें अवैतनिक देश-सेवा कर्मोंकी गिन्ती धर्ममें होने लगी है † ।

भीष्मजीके उत्तर	टीका
१. "हे धर्मराज! सदाचार, स्मृति, वेद और अर्थ ये ही चार विषय धर्मके ज्ञापक हैं। मनुष्यको चाहिये कि प्रकृत धर्मका अवधारण करके उसका अनुष्ठान करे।"	१. यह उत्तर मनुस्मृति अ० २ श्लोक १२ "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।" के अनुसार है।

अर्थ—"वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा धर्म सङ्कटमें विवेक वृत्तिको जिस आचरणसे संतोष हो, ऐसे ये चार साक्षात् लक्षण धर्मके कहे गये हैं।" किन्तु भीष्मजीके उत्तरमें, उक्त शेष लक्षण 'विवेकानुमोदित आचरण' के स्थानमें, "अर्थ" को चौथा लक्षण कहा गया है। इस "अर्थ" शब्दका अर्थ समझमें नहीं आता। यदि इससे "अर्थशास्त्र" याने धनोपार्जन वा जीविकोपार्जनका उपाय समझ लिया जाय तो भीष्मजीके उत्तरसे पारलौकिक पक्षमें वेदोक्त यज्ञादि कर्म और स्मृत्युक्त विधि निषेध एवं लौकिक पक्षमें सदाचार और जीविकार्जनी वृत्ति, व्यक्तिगत धर्म सिद्ध होते हैं।

युधिष्ठिरने यह जानना चाहा था कि धर्म क्या वस्तु है और किसके सम्बन्ध या अपेक्षासे वह उत्पन्न होता है। उत्तरमें बताया गया कि ‡ वेद, × स्मृति और + सत्पुरुषोंके आचरणसे धर्मका ज्ञान होता है, याने वेद और स्मृतिमें मनुष्यके कर्त्तव्योंके जो विधान हैं वे धर्म हैं। सत्पुरुषोंके जो आचरण हैं उन्हींका अनुवर्तन दूसरोंको भी करना चाहिये। वर्णोंकी जीविकार्जनी वृत्तियां भी धार्मिक कर्म हैं। किन्तु धर्मकी उत्पत्ति पर कुछ न कहकर भीष्मने युधिष्ठिरको यह उपदेश दिया कि इनमें से कौन प्रकृत याने सच्चा धर्म है, निश्चय करके उसका अनुष्ठान करना चाहिये। प्रकृत और अप्रकृत, मुख्य और गौण धर्मका निर्णय तब किया जा सकता है जब कि धर्मकी उत्पत्तिका ज्ञान हो।

---

† अवैतनिक होने परभी काङ्ग्रेसको देश-सेवकोंके लिये खुराक और मार्ग व्ययका खर्चा उठाना ही पड़ता है।

‡ श्रौत कर्म = यज्ञादि।

+ स्मार्त कर्म—षोड़श संस्कार, आश्रम धर्म और राज धर्म।

× मनुके अनुसार—ब्रह्मावर्त्त (पंजाब) देशके निवासियोंका आचार सदाचार है।

२. "लोक-यात्रा निर्वाहके लिये धर्मकी स्थापना हुई है। धर्मके आचरणसे इस लोकमें और परलोकमें सुख रूप उत्कृष्ट फल मिलता है। जो मनुष्य प्रकृत धर्मके आचरणमें उदासीन रहता है उसको निश्चयही पापका भागी होना पड़ता है।"

२. "धर्म किससे उत्पन्न होता है"— युधिष्ठिरके इस दूसरे प्रश्नका यह उत्तर है। इस उत्तरसे यह स्पष्ट है कि समाजके सम्बन्धसे मनुष्योंके लिये कर्त्तव्य निर्णित किये गये हैं। अब तक कहे इन दो उत्तरोंसे युधिष्ठिरको सन्तोष होना था, पर ऐसा नहीं हुआ। यह आगे चलकर मालूम होगा। क्यों सन्तोष नहीं हुआ? क्योंकि वेदके आधार पर बने हुए स्मृति ग्रन्थोंमें "अर्थ" की गिन्ती धर्ममें नहीं की गई है। और न समाज-सेवाको याने **वर्णों की जीविकार्जनी वृत्तिको** धार्मिक रूप दिया गया है। मनुस्मृति (अ० २ श्लोक २६-२८) में वर्णोंका धर्म इस प्रकार लिखा है—"अब ब्राह्मणादि वर्णोंके धर्म सुनो—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्योंके, वेदमें कहे हुए पवित्र कर्मोंसे गर्भाधान आदि शरीरके संस्कार करे। यह संस्कार इस लोकमें तथा परलोकमें अन्तःकरणको पवित्र करते हैं। गर्भको पवित्र करनेवाले हवन, जन्म समयके जात कर्म संस्कार, चूड़ाकर्म संस्कार और यज्ञोपवीत संस्कारसे द्विजोंका बैजिक पाप (पिताके किये निषिद्ध मैथुनके संकल्प आदिके कारण उसके वीर्य द्वारा बालकमें आया हुआ दोष) तथा गार्भिक पाप (माताके निषिद्ध मैथुनादिके संकल्पसे उसके रुधिरके द्वारा बालकमें आया हुआ दोष अथवा माता पिताके रजवीर्यकी अपवित्रता) नष्ट होता है। वेदपाठ रूप स्वाध्याय, मद्यमाँसादिका त्याग, चान्द्रायणादि व्रतों, अग्निहोत्रादि होम कर्मों, तीनों वेदोंको पढ़नेके निमित्त शास्त्रोक्त नियमोंका पालन, देवता-ऋषि-पितरोंका तर्पण, गृहस्थाश्रमी होकर पुत्र उत्पन्न तथा पंचमहायज्ञ और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करनेसे इस शरीरमें रहनेवाला आत्मा परब्रह्मको ज्ञान पानेके योग्य किया जाता है।" मनु कथित यह धर्म अथवा आजकल लोग जिसे सनातन धर्म कहते हैं, व्यक्तिगत पारलौकिक श्रेयःके लिये कहा गया है, यह स्पष्ट है। अतएव पारलौकिक श्रेयःकी प्राप्ति करना जब मनुष्यका मुख्य कर्त्तव्य है और उसके साधनभी स्वतन्त्र हैं तब समाजके सम्बन्धसे धर्मकी स्थापना हुई है, यह कहना व्यर्थ है। बल्कि यही कहना ठीक है कि प्रत्येक व्यक्तिकी जीवनयात्राके लिये धर्मकी स्थापना हुई है। अतएव दूसरे प्रकारके धर्मके अनुसार युधिष्ठिरका, युद्ध करके अपहृत राज्यका उद्धार करना अनुचित हुआ था।

३. "पाप परायण पुरुष कभीभी पाप से विमुक्त नहीं होता (क)। किन्तु कोई कोई आपत्कालमें पापाचार करके भी निष्पापी और मिथ्या कहने पर भी सत्यवादी और धर्मात्मा गिना जाता है " (ख)।

३. (क) यह नीतिका साधारण सिद्धान्त है। (ख) यह विशेष सिद्धान्त धर्मसंकटके समय विवेक वृत्तिके सन्तोष पर निर्भर है+, इस उत्तरसे भीष्मजीने देश, काल, और पात्रके विचारसे सामान्य धर्मके अपवादोंका उल्लेख किया।

४. "आचारही धर्मका आश्रय है। उस आचारको आश्रय करके धर्म को जानना चाहिये।"

४. यह उत्तर मनुस्मृति अ० १ श्लोक १०८। ११० के अनुसार है। धर्म का रूप आचार है। यथा—"आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एवच। तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यंस्यादात्मवान्द्विजः॥ एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्। सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥"

अर्थ—"वेद और स्मृतिमें कहा हुआ आचारही परम धर्म है, यदि ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंको अपना हित करनेकी इच्छा होय तो सदा आचारके पालन करनेमें तत्पर रहें। इस प्रकार आचारसे धर्मकी प्राप्ति को देख कर मुनियोंने माना है कि सकल तपोंका मूल आचार है।"

इस आचारके कुछ दृष्टान्त ये हैं—अग्निहोत्र, पंच महायज्ञ, पितरोंका श्राद्ध और तर्पण, शिर पर पगड़ी आदि पहिनकर भोजन न करना, एक वस्त्र पहिनकर भोजन न करना, उदय होते हुए और अस्त होते हुए सूर्य्यको न देखना, किसीकी हिंसा न करनी, सत्य बोलना आदि अनेक विधि निषेधोंका पालन करना।

५. "मनुष्योंका स्वभाव ऐसा है कि वे अपने अधर्मको छिपाते और दूसरोंके पापाचरणको प्रकट करते हैं। देखो, चोर राजाहीन राज्यमें दूसरोंका धन चुराकर अपनी धर्मशीलताको निशङ्क चित्तसे प्रकाश

५. इसी उत्तरका भावार्थ यह है कि अपने सदृश दूसरोंके सुख, दुःखका समझना भी धर्म है।

+ इस विषय पर विस्तृत विचार लो० मा० तिलकने अपने गीता रहस्यके "कर्मजिज्ञासा" प्रकरणमें किया है।

करता है। परन्तु जब दूसरा उसका धन हरता है तब वह राजा से अभियोग करता है।"	
६. "सत्य कहना अवश्य चाहिये। सत्यसे बढ़कर कुछ नहीं है। सत्य में ही सब कुछ स्थित है। पापात्मा तीक्ष्ण स्वभाववाले मनुष्यगण, सत्यके प्रभावसे ही नियमोंकी स्थापना करके, एक दूसरेकी अनिष्ट चिन्ताको छोड़ आपसमें एकता करते हैं। यदि वे नियमोंके बन्धन से छूट जाँय तो निश्चयही विनष्ट होजाँय।"	६. इस उत्तरका भावार्थ यह है कि परस्परकी स्थितिके लिये नियमों का पालन करना महत् धर्म है। गीतानुशीलनके चौथे परिच्छेदमें इस विषय पर विस्तृत विचार किया जा चुका है।
७. "मनीषिगण, हिंसा परित्यागकर शान्तिमार्गका अवलम्बन करना ही परम धर्म मानते हैं।"	७. "अहिंसा परमोधर्मः" अहिंसा (किसी प्राणीको दुःख न देना) ही परम धर्म है। जो कि, केवल व्यक्तिगत श्रेयःसे ही सम्बन्ध रखता है।

भीष्म पितामहके उत्तरोंका अधिक सङ्कलन करना निष्प्रयोजन है। युधिष्ठिर महाराजके प्रश्नोंके ढंगसे हमने यही समझा था कि "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः" इस मंत्रकी व्याख्यामें अब तक हम जिस समाज-सेवा रूपी जीविकाजनी वृत्तिको इहलौकिक धर्म प्रतिपादन करते हुए चले आरहे हैं, उसीका पुष्टिकरण स्पष्टाक्षरोंमें भीष्म पितामहके उत्तरमें पाया जायगा। बिचारे भीष्म पितामह भी क्या करें! "एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः (इस परम्परा प्राप्त कर्मयोगको राजर्षि लोग जानते थे—गी० अ० ४ श्लो० २)" श्रीकृष्ण भगवान्‌के इस वाक्यके अनुसार,-राजर्षियोंके अग्रगण्य, बालब्रह्मचारी महावैराग्यवान्, ज्ञानके पारगामी, जीवन्मुक्त, तथापि क्षत्रियोचित समाज-सेवामें रत, क्षत्रिय कुल-भूषण, भीष्मजीके मुखसे—भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजीने श्रीकृष्ण प्रचारित गीताधर्मकी जो व्याख्या की थी वह अभाग्यवश परवर्ती कथा बाँचनेवाले ब्राह्मणोंकी स्वार्थाभिसन्धिके कारण अस्पष्ट हो गयी है *। मेरा ऐसा अनुमान निरर्थक है या सार्थक सो आगे चल

भीष्म पितामहके उत्तर पर युधिष्ठिर महाराजकी शंका।

* स्वामीजीका ऐसा आक्षेप करनेका कारण यह है कि उनका ऐसा विश्वास है कि, श्रीकृष्णोक्त धर्मके प्रचारके लिये वेदव्यासजी ने आदिमें महाभारतकी रचना करके उस ग्रन्थ का नाम "जय" रक्खा था। क्योंकि उस समय जितने धर्म मत

कर मालूम होगा। जो कुछ हो, भीष्म पितामहके उत्तरसे युधिष्ठिर महाराजको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपने पूर्व प्रश्नोंको सुधार कर फिरसे पूछा। (अ० २६०) महाराजा युधिष्ठिरने कहा—" हे पितामह ! आपने सूक्ष्म वेद बोधित धर्म लक्षणका जैसा कथन किया, वह मेरे हृदयमें स्फुरण होरहा है ! अब मैं कुतर्कको छोड़कर और एक प्रश्न करता हूं, सुनिये। "

युधिष्ठिर महाराजके इस वाक्यका जो भवार्थ है सो इस दृष्टान्तसे खुलासा होता है:—कोई साहुकार अपनी लाखोंकी सम्पत्ति त्यागकर किसी महात्माके पास आकर पूछे कि, हे भगवन् ! मैं अमुक लक्षपति साहुकार था, अब सर्वस्व त्याग कर धर्मकी खोजमें आपके पास आया हूं। यह महात्मा साहुकारको, इस उपदेशके बदले कि मनकी शान्ति धर्मका रूप है और वह शान्ति परमात्माके प्रेमसे होती है, यह उपदेश करने लगे 'चोरी न करना धर्म है।' तो वह विरक्तमना साहुकार अवश्य कहेगा कि, हे भगवन् ! मैं तो पहिलेसे ही इस बातको जानता था। यह उपदेश मेरे लिये निरर्थक है'।

ऐसाही युधिष्ठिर महाराजके भी कहनेका अभिप्राय है कि, हे पितामह ! भारतयुद्धमें ज्ञातिवध जनित शोकसे अशान्त होकर, " क्षत्रियोंके लिये युद्ध करना धर्म है " क्यों माना गया ? इसके और धर्मके स्वरूपको जाननेके लिये, मैं आपके पास आया हूँ। गौण धर्मोंका ज्ञान प्राप्त करनेको नहीं, क्योंकि उन सबको मैं जानता हूँ। धर्मके उत्पत्ति स्थानको जानना चाहता हूँ, धर्मका रास्ता पूछना मेरा उद्देश्य नहीं है; धर्मके रास्ते पर चलते चलते मेरा नाम ही 'धर्मराज' पड़ गया है। अब, मैं आपके उत्तरोंका प्रतिवाद न करके दूसरा प्रश्न करता हूँ, सुनिये।

प्रचलित थे उनका खण्डन करके श्रीकृष्णोक्त धर्म मतकी श्रेष्ठता उसमें बतलाई गई थी। बत्तरकालमें श्रीकृष्णोक्त धर्म नीतिके विस्मरणसे तथा उसके आचरणको असम्भव मान पुराण जीवी पण्डितोंने अपनी मनमानी जोड़ तोड़ करके उसका रूपही बदल दिया। यहां तक कि जोड़ की अधिकतासे आदिम " जय " नामक भारतका रूप महाभारत होगया है और विचारोंकी शैलीमें असामञ्जसता आगई है। जिसके कारण साधारण पाठकोंके लिये किसी विचार विशेषके सिद्धान्त तक पहुंचना कठिन होगया है। " श्रीकृष्ण चरित " के रचयिता पंडितवर वङ्किम बाबूका कहना है कि महाभारतकी रचना और विचारशैलीमें तीन तह पाये जाते हैं, जिससे बोध होता है कि तीन भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा महाभारत रचा गया है। यदि इन दोनों विद्वानोंके मत किसीको मान्य न हो तो उसे अवश्यमेव यह मानना पड़ेगा कि उस प्राचीनकालमें जितने प्रकारके मत और विचार और पौराणिक कथायें प्रचलित थीं सबका संग्रह महाभारतकारने इस ग्रन्थमें किया है। किसी विशेष मतके प्रचारके लिये महाभारत नहीं रचा गया था। जो कुछ हो, यदि किसी समय सटीक महाभारतका प्रकाशन विद्वानोंके द्वारा आरम्भ होगा तो सम्भव है कि इन अनुमानोंकी सत्यासत्यता प्रकाश हो जायगी।

भीष्मकथित धर्मव्याख्याकी समालोचना। (क)

महाराज युधिष्ठिर कहने लगे—“जिस धर्मके प्रभावसे प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है, वह धर्म केवल शास्त्र पाठसे नहीं जाना जाता।” (जैसे जीविकार्जन रूपी समाज-सेवा धर्म है—इसका ज्ञान इन दिनों हमें शास्त्र पाठसे नहीं होता)। “ अविपन्न व्यक्तिका जो धर्म है वही विपन्न व्यक्तिका नहीं है। आपदायें असंख्य हैं, आपद्धर्म भी नाना प्रकारके हैं। अतएव शास्त्रोंसे आपद्धर्म किस तरह जाना जायगा?” (इस कथनका भावार्थ समझनेका एक दृष्टान्त यह है—प्रचलित किसी कोष ग्रन्थमें सब प्रचलित शब्दोंका संग्रह हो चुका है। यदि अब कोई नया शब्द उत्पन्न हो तो वह शब्द इस अभिधानमें न रहनेसे भविष्यत् कालके मनुष्य, इस शब्दका अर्थज्ञान किस उपायसे करेंगे? भाषामें इस शब्दका उपयोग जिस भावनाको व्यक्त करनेके लिए होता था वा होता है उसके ज्ञानसे इसका अर्थज्ञान होगा। अतएव शब्दोंके अर्थज्ञानके लिए कोष मुख्य आधार नहीं है। परन्तु भाषाही मुख्य आधार है। अतएव कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य कर्मोंके ज्ञानके लिए शास्त्रातिरिक्त और भी कोई आधार होगा और वह आधार समाजकी हित-दृष्टि है, जिसके आधार पर शास्त्र भी बने हैं। जैसा कि भाषाके आधार पर कोष ग्रन्थ।)

युधिष्ठिर महाराजका यह प्रश्न भीष्म पितामहके उत्तर नं० १ का प्रत्युत्तर है। स्मृतियोंका शासन है (श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः। इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्। मनु अ० २ श्लोक ९) कि, श्रुति (वेद) और स्मृतियोंमें कहे हुए धर्म (कर्म, आचार) के अनुष्ठानसे मनुष्य इस लोक में कीर्त्ति और परलोकमें अत्युत्तम सुखको प्राप्त होता है। “ वेद, स्मृति धर्मका ज्ञापक है ” ऐसा जो भीष्मजीने कहा था उसका अर्थ ‘ श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए कर्म धर्म हैं ’ ऐसा मानकर युधिष्ठिर महाराजने यह शङ्का उठाई है कि, विधि-विहित कर्मोंको ही धर्म मानना चाहिये अथवा धर्म कोई स्वतन्त्र वस्तु है, जिसके लिये कर्मोंका विधान हुआ है? यदि कर्मोंको धर्म माना जाय तो धर्मका रूप अस्थिर हो जाता है। क्योंकि अवस्था वा परिस्थिति विशेषमें जो कर्म एकके लिए कर्त्तव्य समझा जाता है वही दूसरेके लिए अकर्त्तव्य हो जाता है। जो विधि, किसी कालमें विहित समझी जाती थी वही दूसरे कालमें अविहित समझी जाती है। (जैसे ब्राह्मणोंका चारों वर्णोंमें विवाह, नियोगविधि और मांस-द्वारा होम, ये पूर्व कालमें विहित थे अब अविहित हैं।) दूरदर्शी महर्षियोंने जहां तक सम्भव हो सका है समाजकी विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियोंका विचार करके कर्मोंके विधान किये हैं सही, परन्तु जब अवस्थायें और परिस्थितियां संख्याबद्ध नहीं हैं तब शास्त्र बहिर्भूत कोई परिस्थिति उपस्थित होने पर

धर्माधर्म या कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय कैसे होगा? अतएव धर्मका यथार्थ लक्षण, जो तीनों कालमें स्थिर रहनेवाला हो, जान लेना आवश्यक है, जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करना सरल हो जाय। धर्मका यथार्थ लक्षण देशबाधित भी नहीं हो सकता, अर्थात् जो कर्म एक देशमें धर्म माना जायगा वह पृथ्वी भरमें सर्वत्र धर्म ही माना जायगा। प्रकृत धर्म पात्रबाधित भी नहीं हो सकता, अर्थात् जो कर्म एकके लिए धर्म होगा, वह सभी व्यक्तियों के लिये धर्म होगा।

भीष्मपितामहके उत्तर नं० १ और २ में "प्रकृत धर्म" शब्द आया है, अतएव इससे जाना जाता है कि "अप्रकृत धर्म" भी कोई वस्तु है। धर्मका जो लक्षण देश, काल, पात्र इन तीनों दशाओं में अव्याहत रहता है उसको हम "प्रकृत धर्म," और जो लक्षण देश, काल और पात्रकी विशेषता से परिवर्तनशील है और परिवर्त्तित अवस्थामें कहीं "प्रकृत धर्म" के साथ गौण सम्बन्ध रखता है और कहीं नहीं भी रखता, उसको "अप्रकृत धर्म" कहेंगे। जैसे "अप्रकृत धर्म" सम्बन्धी कर्मोंके विधानोंसे वेद और स्मृतियाँ भरी पड़ी हैं। (इसका विचार हम आगेके प्रकरण में करेंगे)। जिनमें बहुतोंका गौण सम्बन्ध "प्रकृत धर्म" के साथ अभी तक बना है और बहुतोंका वैसा सम्बन्ध कालवश नष्ट हो गया है। जिस समय जिन ऋषियोंने उन कर्मोंका विधान किया था उस समय उन कर्मोंका "प्रकृत धर्म" के साथ गौण सम्बन्ध बना था, क्योंकि बिना प्रकृत धर्मके ज्ञान हुए "अप्रकृत धर्म" का विधान हो नहीं सकता था। परन्तु अवस्था या परिस्थित के परिवर्त्तनके साथ साथ "अप्रकृत धर्मों" के विधानोंका भी परिवर्त्तन होना चाहिये था। किन्तु करे कौन? क्योंकि प्रकृत धर्मका ज्ञान तो लोप ही हो चुका था। इसी आशयको प्रकाश करनेके लिए युधिष्ठिर महाराजके मुखसे ऐसा शङ्कायुक्त प्रश्न उत्थापित किया गया है।

प्रकृत धर्मका लक्षण है "समाजका अभ्युदय" और "व्यक्तियोंका निःश्रेयस्"। भूत, वर्त्तमान, और भविष्य तीनों कालोंमें, पृथ्वीके सभी देशोंमें, प्रत्येक मनुष्यके लिये ये दोनों बातें मङ्गलकारिणी थीं, हैं और रहेंगी। इस धर्मका कर्म है "ज्ञान सहित समाजकी निष्काम सेवा," जो कि मनुष्य मात्रके लिये तीनों कालमें आचरणीय था, है और रहेगा। इस धर्मके मुख्य विषय तीनों कालमें एकसे बने रहते हैं केवल इसके आचरणकी विधिमें जब तब कुछ रूपान्तरसा हो जाता है। यथा—मुख्य विषय 'समाज' और 'सेवा' हैं। और आचरणकी विधि 'ज्ञान सहित' और 'कामना रहित' हैं। ये विधि कभी 'अज्ञान और सकाममें' और पुनः 'सज्ञान और निष्काममें' रूपान्तरित होती रहती हैं *।

---

* गीता अ० ४ मन्त्र १—३ की व्याख्या देखिये।

मनुष्य नामक प्राणीकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार समाजमें ही होते हैं। समाज ही मनुष्योंकी इन तीनों अवस्थाओंका कारण है जिनमें से मुख्यतया स्थितिका कारण तो समाज है ही। मनुष्योंकी इन तीनों अवस्थाओंको धारण करने से समाज मनुष्योंके द्वारा "धर्म" संज्ञा पाने के योग्य है। युधिष्ठिर महाराजने अपने प्रश्न (क) में समाजको ही "धर्म" संज्ञा दी है। समाजसे भिन्न किसी कर्त्तव्यकी कल्पना भी मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। ऐसे समाजधर्म (प्रकृत धर्म) के आचरणमें जो मनुष्य उदासीन रहता है उसको निश्चय ही पापका भागी होना पड़ता है। (भीष्मजीका उत्तर नं २ देखो)। उस समयके कर्मकाण्डी, ज्ञानमार्गी और तपस्वी जो व्यक्तिगत पारलौकिक श्रेयःको ही धर्मका पूर्ण रूप समझते थे, उनपर महाभारतकारने भीष्मके मुखसे ऐसा आक्षेप कराया है।

(ख) युधिष्ठिर महाराजने कहा—"शास्त्रोंमें सत् पुरुषोंके आचारको धर्म, और धर्मानुष्ठानपरतन्त्र पुरुषोंको सत् कहकर निर्देश किया है। इस लक्षणसे यही स्पष्ट जान पड़ता है कि धर्म और सत्पुरुषता परस्पर सापेक्ष हैं। परन्तु इसके द्वारा कौन सत् पुरुष है और धर्म क्या है इसका निरूपण नहीं किया जा सकता"। (भीष्मजीके उत्तर नं ४ का यह प्रत्युत्तर है)।

भीष्म पितामहने सदाचारको धर्मका ज्ञापक (उत्तर नं १) और आचारको धर्मका आश्रय (उत्तर नं ४) कहा था। उन पर युधिष्ठिर महाराजने उक्त शंका उठाई है। इस शङ्कासे युधिष्ठिर महाराजका अभिप्राय यह है कि सदाचारकी कसौटी सत् पुरुष है; अथवा कोई और? यदि सत् पुरुष इसकी कसौटी है तो सत् पुरुषकी कसौटी क्या है? इस पर यही उत्तर देना पड़ता है कि सत् पुरुषकी कसौटी सदाचार (सत् + आचार) है। अतएव "आचार" और "पुरुष" दोनों शब्दोंमें जो 'सत्' शब्द लगा है उस "सत्" की व्युत्पत्ति कहां से है सो नहीं जाना जाता। पहिले "सत्" वस्तुका ज्ञान होना आवश्यक है तब उसके अनुकूल आचरणोंको "सदाचार" और उनके आचरणकारीको "सदाचारी पुरुष" कह सकेंगे। अतएव, किसी मनुष्य विशेषको सत् पुरुषकी संज्ञा देकर उसके आचरणको सदाचार मान लेने से ही कुछ धर्मका निरूपण नहीं हो सकता।

"सत्" शब्दका अर्थ है विद्यमान, वर्त्तमान, नित्य, चिरस्थायी। इस लक्षणके अनुसार जैसा सत् शब्दसे परमात्मा और जीवात्मा का बोध होता है, उसी तरह अति पूर्वकालमें मनुष्यसमाजका भी बोध होता था। इस सत् लक्षण युक्त मनुष्यसमाजके हितकी अपेक्षासे जिन आचारोंका निरूपण हुआ था वे "सदाचार" कहाने लगे। कालान्तरमें जब सत् शब्दसे

समाजका ज्ञान होना लोप हो गया और केवल आत्माके निर्देश करने में इसका उपयोग होने लगा, तब व्यक्तिगत जीवात्माके हितकी अपेक्षासे वे सब आचरण (जो स्वभावतः उभयमुखी हैं याने व्यैयक्तिक और सामाजिक हितसाधक हैं) सदाचार समझे जाने लगे। सुतरां सदाचारोत्पत्ति जानने की पुनः आवश्यकता हो गई। वर्त्तमान शास्त्रोंमें इस जिज्ञासाका कोई स्पष्ट उत्तर न रहनेसे महाभारतकारने भीष्म-युधिष्ठिर सम्वादमें इस प्रश्नको उठाया।

सदाचारके निर्देशमें मनुस्मृतिके अ० २ श्लोक १७, १८, १९ और २० में कहा है "ब्रह्मावर्त्तदेशमें (सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके बीच वर्त्तमान दिल्लीसे उत्तर पश्चिम पञ्जाबका प्रदेश) बहुधा शिष्टोंके उत्पन्न होनेसे उस देशमें ब्राह्मणसे लेकर वर्णसंकरों तक में परम्परा से चला आता हुआ जो आचार है वह सदाचार कहा जाता है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य (विराट देश वा जयपुर), पांचाल (पंजाब प्रान्त के देश विशेष) और शूरसेन (मथुरा) ये ब्रह्मर्षिदेश ब्रह्मावर्त्तदेशसे कुछ न्यून हैं। इन देशोंमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे पृथिवी में सब मनुष्य अपने अपने चरित्र (आचार) को सीखें।"

मनुस्मृतिके इस आदेशसे यह कुछ भी नहीं जाना गया कि सदाचार क्या वस्तु है। इतना ही मात्र जाना गया कि यदि कोई हमसे कहे कि तुम्हारा आचरण (चरित्र, आचार, व्यवहार, रीति, कर्म इत्यादि इनमें से कोई भी हो) सत् नहीं है, तो क्या हम बङ्गालियों को, पंजाबियोंसे 'किसीके भी जूंठे चूल्हे पर रोटी बनाना और बिना पानीके राख से बर्त्तन मल लेना,' राजपूतानावासियों से 'मशकका पानी पीना,' मथुरा वालोंसे 'भंग पीना' और कान्यकुब्जदेश-निवासियोंसे 'शौच जाके बिना हाथ मटियाये बायें हाथ से कपड़ा सम्हालकर लोटा पकड़ना' सीखना चाहिये? युधिष्ठिर महाराजके वाक्यसे यह स्पष्ट है कि ये सब बातें देशाचार कही जाती हैं। धर्मसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं? देशभेद वा जातिभेद से आचारकी भिन्नता हुआ ही करती है। स्वाधीन और पराधीन जातिके आचरणोंमें भिन्नता रहती ही है। छल, चातुरी, कपट, झूठ और ऊपरी क्षमा, ये गुण जितने अधिक पराधीन जातिमें पाये जायँगे उतने अधिक स्वाधीन जातिमें न पाये जायँगे। शिक्षित और अशिक्षित जाति और व्यक्तिके आचरणोंमें भी भिन्नता रहती है। जितनी अधिक स्वार्थपरता अशिक्षित जाति और व्यक्तिमें पाई जायगी उतनी शिक्षित जाति और व्यक्तिमें न पाई जायगी ×।

× शिक्षित और अशिक्षित शब्दोंसे हम लोगोंको इस समय जिनका ज्ञान होता है, उनमें बहुधा इस सिद्धान्तके विपरीत बात देखने में आती है इसलिये यों समझना चाहिये कि शिक्षित होकर भी जो स्वार्थपर है उसकी शिक्षामें कमी है। और जो अशिक्षित होकर भी परार्थपर है उसमें पूर्वजन्म की अच्छी शिक्षा का संस्कार है अथवा उसने स्कूल कालेज में न पढ़कर भी अच्छी मौखिक शिक्षा प्राप्त की है।

कोई भी देश हो, वहां के लोग चाहे स्वाधीन हों वा पराधीन, चाहे शिक्षित हों वा अशिक्षित, चाहे वहां दो ही मनुष्य एकत्र क्यों न रहते हों, सर्वत्र दूसरेका कपट व्यवहार, और दूसरेका तथा अपना भी ऐसा व्यवहार जिससे अपनेको कष्ट होता हो और अपनी वस्तु चोरी जाती हो, सभीको बुरा लगता है। अतएव जिस आचारसे आचरणकारीको और उससे भिन्न एक वा ततोधिक मनुष्योंका हित हो, सुख वा प्रसन्नता हो, वह आचरण सदाचार है। सुतरां सदाचारका लक्षण बतलाने के लिये किसी देश, जाति वा मनुष्य विशेष के आचरणको निर्देश न करके उसके फल को, जिससे अपनी और दूसरेकी तात्कालिक प्रसन्नता और भविष्यत् में सुख वा हित हो, सदाचारके लक्षणके रूपसे निर्देश करना चाहिये। क्योंकि प्रकृतिके विचित्र नियम से स्वाधीन जातिका आचरण पराधीन होने से और पराधीन जातिका आचरण स्वाधीन होने से बदल जाता है।+। शिक्षित जातिका आचरण अशिक्षित होने से और अशिक्षित जातिका आचरण शिक्षित होने से बदल जाता है†। अतएव स्मृति शास्त्रोंमें (यदि वे धर्म शास्त्र हैं केवल भूतकालिक विषयोंका स्मारक नहीं हैं तो) किसी विशेष समय की जाति विशेष का आचरण सदाचार रूपसे निर्दिष्ट नहीं होना चाहिये था। यही महाभारतकारका आक्षेप है। सदाचार जब समाज-व्यापक होता है तब वह प्रकृत धर्मका ज्ञापक हो जाता है।

महाभारतकारके विचार में शूद्रों को भी मोक्ष साधक ज्ञानार्जन का अधिकार है।

(ग) जैसे सदाचारकी एक कसौटी है वैसा ही किसी कर्मको धार्मिक कर्म समझने के लिये उसकी भी कोई कसौटी होनी चाहिये, ऐसा मनमें विचार कर लोकसम्मत वा स्मृतिकथित धार्मिक और अधार्मिक कर्मों पर युधिष्ठिर महाराज अपनी शंकायें प्रकाश करते हैं—"देखिये शूद्र वर्णके लोग मुमुक्षु होकर धर्मकी वृद्धिके लिये वेदान्तादि ग्रन्थों को श्रवण करते हैं—इससे उनको अधर्म होता है। और अगस्त्यादि

+ केवल आचरण ही नहीं, भाषा तक बदल जाती है। पराधीनतासे भारतवर्षमें तो मनुष्योंका डील डौल (शरीर) ही बदल गया है। शरीराकृतिके परिवर्तनके सम्बन्धमें कहा जाता है कि प्राचीन कालमें भारतके मनुष्य ताड़के समान लम्बे होते थे और अब घोर कलिकाल उपस्थित होगा तब जो भारतवासी इस समय झुक झुक कर भांटा (बैंगन) तोड़ते हैं, उनको लग्गी से भांटा तोड़ना पड़ेंगे। कदाचित किसी तत्वज्ञ रसिक पण्डितने भारत की पराधीनताके भावी फल की ओर लक्ष्य कर के इस कहावतका जन्म दिया होगा।

† इसमें अवनति का दृष्टान्त भारत है, और उन्नति के दृष्टान्त यूरोप, अमेरिका, जापान आदि हैं।

महर्षिगण यज्ञके निमित्त नाना प्रकारके हिंसा जनक अनुष्ठान करते हैं * इससे उनको धर्म सञ्चय होता है (ऐसा लौकिक में समझा जाता है)। अतः धर्मका निर्णय कैसे किया जाय ?"

मनुस्मृति में ब्राह्मणके पारलौकिक कल्याण (मोक्ष) के लिए छः कर्म कहे गये हैं—

"वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा † गुरुसेवा च नैःश्रेयस्करं परम्" ॥ मनु अ. १२। ८३

अर्थ—उपनिषदादि वैदिक ग्रन्थोंका अर्थ सहित अध्ययन,

कृच्छ्रादि तप (कठोर व्रत), ब्रह्म विषयक ज्ञान, इन्द्रिय संयम,

अहिंसा और गुरुकी सेवा ये छः मोक्ष के उत्कृष्ट साधन हैं।

इस पर यह वितर्क उपस्थित होने पर कि, क्या इन छओं कर्मोंके समान साधनसे मोक्ष मिलता है अथवा किसी एक के अतिशय साधनसे भी मोक्ष मिल सकता है ? इस पर यह कहा है कि—

"सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ मनु अ० १२। ८५

अर्थ—इन सब कर्मोंमें ब्रह्म वा आत्मज्ञान श्रेष्ठ कहा गया है। इस कारण सब विद्याओंमें उपनिषद् ही प्रधान है, क्योंकि उसके द्वारा मोक्ष मिलता है।

युधिष्ठिर महाराजने जो शंका उपस्थित की है उसका विचार यों है—मन की शान्ति एवं पारलौकिक कल्याण, मनुष्य मात्र का अभीष्ट है और उनका साधन करना मनुष्य मात्रका कर्त्तव्य है। जिन कर्मोंसे मनकी शान्ति और पारलौकिक कल्याणकी सिद्धि होती है ये कर्म जब मनुष्य मात्र के लिए धर्म्य कर्म माने गये हैं तब शूद्र वर्णके लिये उपनिषदोंका श्रवण, मनन अधर्म्य क्यों माना जाता है ? क्या शूद्र मनुष्य नहीं है ? यदि है तो उसको भी मोक्ष साधक ज्ञानार्जन का अधिकार है।

५ वें परिच्छेद में कह आये हैं कि यावत् कर्म श्रमसाध्य होने से मन में अवसाद उत्पन्न करने वाले हैं। मनको इस अवसादके आक्रमणसे बचाने

---

* यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः। मनु अ० ५। १२

† मोक्षार्थी के लिए हिंसात्मक अनुष्ठान त्याज्य है।

के लिए उस ज्ञान की आवश्यकता है, जिससे मन में, समाज तथा जिसके साथ कोई कर्म-सम्बन्ध उपस्थित हो उसके लिये, प्रेम भाव उत्पन्न हो। ("यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततं, स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" इति मंत्र गी० अ० १८। ४६ में देखिये)। अतएव समाजके मङ्गलार्थ वेदान्तका ज्ञान सबके लिये समान आवश्यक होने पर भी शूद्रके लिये विशेष आवश्यक है। हां, कर्म-सन्न्यास प्रधान वेदान्तके ज्ञानसे समाजका अमंगल होता है परन्तु भक्ति-प्रधान वेदान्तके ज्ञानसे समाजका मंगल ही होता है। तथापि जब यहां युधिष्ठिर महाराज उस समयके प्रचलित लोकमत या किसी स्मृतिके आधार पर (स्मृतियोंके अनुसार शूद्रको ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानका अधिकार नहीं है) कहते हैं कि शूद्रों के लिए धर्मवृद्धि के अर्थ वेदान्तादि ग्रन्थोंका श्रवण अधर्म है, तो इससे यही जाना जाता है कि, शूद्रवर्ण भी सनातन आर्य समाजका अंग है तथा समाज सेवा ही धर्मका प्रत्यक्ष रूप है, ये बातें उस समयके बहुतकाल पूर्व से ही लोग भूल गये थे। शूद्रवर्ण भी समाजका अंग है यह ज्ञान यदि लोगोंमें रहा होता तो मोक्षके लिए ज्ञानार्जनमें द्विज वर्णोंके साथ समान अधिकार शूद्रोंका भी माना गया होता; अथवा, यदि "समाज-सेवा धर्म है" इस ज्ञानका लोप न हुआ होता तो मोक्ष के लिये ज्ञानप्राप्ति का साधन वेदान्तादि ज्ञानकी शिक्षा भक्ति-प्रधान बनाई गई होती। परन्तु पारलौकिक कल्याण ही मुख्य धर्म माने जाने से वेदान्तादि ज्ञानकी शिक्षा कर्म-सन्न्यास प्रधान हो चुकी थी, जिससे लोकयात्रामें विघ्न होते देखकर स्मृतिकारोंको पारलौकिक धर्मके नामसे विशेष विशेष विधियां चलानी पड़ी। समाज-सेवाके लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर भक्ति मार्गके प्रवर्त्तकों ने भी अपनी शिक्षा पारलौकिक कल्याण-प्रधान बना डाली। इन सब आपत्तियों को दूर करके मनुष्य मात्रके लिये सुसाध्य तथा एक समान धर्म—ज्ञान और कर्म समुच्चयात्मक धर्म—याने कर्मयोग का प्रचार करने के लिए श्रीकृष्ण भगवान का अवतार हुआ।

प्रकृत धर्म नित्य है और गौण धर्म अनित्य है।

(ख) भीष्मजीके उत्तर नं १ और २ में कहे हुये प्रकृत धर्म की नित्यता और अप्रकृत या गौण धर्म की अनित्यताका विचार मनमें रखते हुए युधिष्ठिर महाराज कहने लगे—"अनेक समयमें ऐसा भी होता है कि धार्मिक लोगोंके किसी धर्मके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होने पर बलवान् दुरात्मागण उस अनुष्ठानके जिस अंग पर बाधा डालते हैं वह अंग उस समयसे उखड़ जाता है। सुतरां धर्मके तत्वका निर्णय करना बड़ा कठिन है। असल में, हम लोग उसे जानते हों या न जानते हों, दूसरों के कहने से समझ सकते हों या न समझ सकते हों, धर्म का तत्त्व छुरेकी धारसे भी सूक्ष्म और पहाड़से भी भारी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

इस कथन में दो भाग हैं— पहला भाग यह बताता है कि आविर्भा-

तिक+ आधिदैविक × एवं आध्यात्मिक ‡ व्याघातोंसे और मतमतान्तरोंकी † शिक्षासे पारलौकिक धर्मके आनुष्ठानिक अंगोंका (rites) लोप, परिवर्तन और उत्पत्ति होती रहती है अतएव ये अनित्य हैं। दूसरा भाग यह बताता है कि कई दिनों तक लगातार धर्म कथा सुनने पर भी युधिष्ठिर महाराजको धर्म विषयक शङ्काका समाधान न हो सका क्योंकि भीष्मजीने वर्णोंके लिये गीतोक्त उपदेश का उल्लेख नहीं किया था।

युधिष्ठिर महाराजके उक्त कथनके अभिप्रायको समझनेके लिए हमको समाज-सेवा रूप कर्मों और वैदोक्त यज्ञ एवं पुराणोक्त व्रतादिक कर्मों का मिलान करके विचार करना होगा। जीविकार्जनी वृत्तिरूपी समाज -सेवा कर्म समाजकी सृष्टिसे आजलों बराबर लोगोंमें चली आ रही हैं। और जब तक मनुष्य इस पृथ्वी पर रहेंगे तब तक जीविकार्जनी वृत्तियां भी (जोकि सकाम समाज-सेवा है) बनी रहेंगी। क्योंकि जीविकार्जनी वृत्तिके बिना मनुष्योंका जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। समाजके बिना जीविकार्जनी वृत्तियोंकी उत्पत्ति और जीविकार्जनी वृत्तियों के बिना समाजकी स्थिरता सम्भव नहीं। अतएव मनुष्य-समाजके साथ समाज-सेवाका नित्य सम्बन्ध पाया जाता है। और जिन लक्षणोंसे मनुष्य समाजकी नित्यता प्रत्यक्ष है उन्हीं लक्षणों से समाज-सेवाकी नित्यता भी सिद्ध है। समाज-सेवाको धर्म मानने से वह प्रकृत धर्म जैसा नित्यताके लक्षण युक्त हो जाता है, और प्रकृत धर्मका एक लक्षण जो 'अभ्युदय' है सो तो उसमें है ही।

अप्रकृत वा गौण धर्म अनित्य है—क्योंकि श्रौत, स्मार्त्त, पौराणिक और तान्त्रिक कर्मोंकी अनित्यता प्रत्यक्ष है। लगभग अढ़ाई हजार वर्षसे, जबसे बौद्धधर्मका प्रचार हुआ, वैदिकयाग, यज्ञ और अग्निहोत्र तथा श्राद्धमें मांस भोजन आदि अनेक धार्मिक कर्मों का प्रायः लोप हो चुका है *। स्मृत्युक्त संस्कार्य्य क्रियाओं में कितनोंका लोप और कितनोंका रूपान्तर हो चुका है। वैष्णव धर्मके प्रभावसे तन्त्रोक्त बहुतेरे कर्मोंका रूपान्तर और लोप हो गया

+ सोमवल्लीकी अप्राप्तिके कारण यज्ञमें सोम रसके उपयोगका बन्द होना इसका एक दृष्टान्त है, ऐसे और भी अन्य प्रकार के अनेक दृष्टान्त होंगे।

× किसी किसी परिवार में, किसी पूजा या तेवहार के दिन गमी हो जाने के कारण उस पूजा या तेवहारका होना उनके यहां बन्द हो गया है।

‡ आलस्यवश संस्कार आदि कितने धार्मिक कृत्योंका लोप कितने परिवारों में हो चुका है।

† इस कोटिके दृष्टान्तोंमें बौद्ध मतका आविर्भाव एक प्रधान दृष्टान्त है जिसके कारण वैदिकयाग यज्ञ और उपवीत संस्कारका भी लोप हो गया था।

* मनुस्मृति अ० ३ के श्लोक २६७—२७० में श्राद्धमें पितरों को तृप्त करने के लिये मछलीसे भैंसे तक का मांस ब्राह्मणोंको खिलाने की विधि लिखी है।

है। लोगोंकी दरिद्रताके कारण पुराणोक्त व्रतादिकोंका सम्पादन दिनोदिन कम हो रहा है। यदि ये सब कर्म प्रकृत धर्म होते और लोकयात्रा निर्वाहके लिए इनकी स्थापना हुई होती, तो इनके लोपके साथ साथ समाजके अंशोंका या समाजका ही लोप होगया होता; पर ऐसा नहीं हुआ। अतएव ये सब कर्म अप्रकृत या गौण धर्म हैं। प्रकृत धर्म जो लोकयात्रा निर्वाहके लिए तथा समाजके अभ्युदयके लिए स्थापित हुआ है वह वर्णधर्म है यानी, शिक्षा, रक्षा, पोषण और परिश्रम रूपी समाज-सेवा अर्थात् जीविकार्जनी वृत्तियां हैं। समाज और समाज-सेवाके ज्ञानके लोपसे जीविकार्जनी वृत्तियोंको केवल उदरपूर्त्ति का साधन समझकर आज ५००० वर्षसे भी अधिक कालसे लोग पारलौकिक मंगलको ही धर्मका पूर्ण रूप मान रहे हैं। ५०००वर्ष पूर्वके किसी किसी विद्वान् पुरुषको इस विषयपर सन्देह भी हो रहा था। इसका एक उदाहरण मैं तुम्हें कल बतलाऊंगा। आज विश्रामका समय हो गया है।

६ परिच्छेद।

पांच हज़ार वर्ष पूर्वके भारतीय आर्य्योंके धर्म-विचार।

गणेश—स्वामीजी! कल आपने कहा था कि ५००० वर्ष के पूर्व में कुछ विद्वान् पुरुषोंको इस बातका सन्देह हो रहा था कि समाज-सेवा मनुष्योंका परम कर्त्तव्य है अथवा अपना पारलौकिक श्रेयःसाधन करना ही परम कर्त्तव्य है—इसपर उस प्राचीन कालका एक उदाहरण आज आप बतलाने वाले हैं।

मायानन्द—भीष्म-युधिष्ठिरके प्रश्नोत्तरों (संवाद) का सार यह था कि युधिष्ठिर वर्णधर्मको, यथा क्षत्रियके लिये प्रजापालनको, प्रकृत धर्म समझ रहे थे किन्तु इसके लिये उन्हे कोई शास्त्रीय आधार ऐसा नहीं मिलता था जिससे वे उसे व्यक्तिगत पारलौकिक श्रेयः पर भी प्रधानता दे सकें और उन्हें वर्णधर्मके प्रकृत धर्म होनेका निश्चित दृढ़ ज्ञान हो जावे। भीष्मजीका उत्तर चाहे जिस ओर घटित होसके परन्तु युधिष्ठिर महाराजने यही समझा था, जैसा कि शास्त्रोंके साधारण अध्ययन से हम लोग भी समझते हैं कि, व्यक्तियों के पारलौकिक श्रेयः के लिये ही शास्त्रोंमें धार्मिक कर्मोंका विधान हुआ है और वे ही प्रकृत धर्म हैं। अपने इस समझके अनुसार युधिष्ठिर महाराजने निराश होकर अन्तमें कहा कि धर्म तत्वका निर्णय करना बड़ा कठिन है (अर्थात् विना युक्तिके केवल शास्त्रोंके आधार पर इसका निर्णय नहीं हो सकता)।

तुलाधार-जाजलि-संवाद।

इस पर भीष्मजीने कहा—"हे धर्मराज ! प्रकृत धर्मके विषयमें मैं पूर्व-कालका एक इतिहास सुनाता हूं।" भीष्मजीके इस अवतरणका यह अभिप्राय है कि इस इतिहासमें मानव धर्मके विषयमें जो वाद-विवाद है, उसके सुननेसे कदाचित् युधिष्ठिरको प्रकृत धर्मका ज्ञान हो जाय।

(महाभारत शान्तिपर्व अ० २६१)—भीष्म पितामहजी युधिष्ठिर महाराजसे बोले—"पूर्वकालमें जाजलि नामका कोई अरण्यचारी ब्राह्मण समुद्रके किनारे घोर तपस्या कर रहा था। एक दिन वह महातेजा तपस्वी अपने तेजके प्रभावसे जलमें रहते हुए भी ध्यानबलसे सब लोकोंका विचरण और निरीक्षण करके× आप ही आप कहने लगा कि इस संसारमें मेरे तुल्य कोई नहीं है क्योंकि मेरे सिवा कोई मनुष्य जलमें रहकर आकाशके ग्रहनक्षत्रादिकोंको नहीं जान सकता! तपोधन जाजलिजीने जब ऐसा कहा, तब शून्य मार्ग (आकाश) से राक्षस गण उनसे कहने लगे—'हे भद्र ! ऐसा कहना आपको उचित नहीं। वाराणसीमें वणिग्धर्मावलम्बी तुलाधार नामका एक यशस्वी महापुरुष है, वह भी ऐसा वचन नहीं कह सकता है।' जाजलिने राक्षसोंसे कहा कि मैं उस तुलाधार से भेट करना चाहता हूं। राक्षसोंने उसको वाराणसी जानेका रास्ता बता दिया। जाजलिने वाराणसी पहुँचकर तुलाधारसे भेट की।"

युधिष्ठिर महाराजने भीष्मजीसे पूछा—"भगवान् जाजलिने किस कठोर कर्मका अनुष्ठान करके ऐसी उत्कृष्ट सिद्धिका लाभ किया था सो आप सुनाइये।"

भीष्मजी कहने लगे—"वाणप्रस्थ धर्मके जानने वाले भगवान् जाजलि घोर तपोनुष्ठानका आरम्भ करके सायं-सन्ध्या स्नान, हुताशनमें आहुति-प्रदान, एकाग्र चित्तसे वेदाध्ययन और भूमि पर शयन करते थे। गर्मी और वर्षाके दिनोंमें खुले मैदानमें और जाड़ेके दिनोंमें जलमें रहकर अत्यन्त क्लेश सहन करते थे। परन्तु 'मैं धार्मिक हूं' ऐसा कहकर कभी अहंकार प्रकाश नहीं करते थे। इसके अनन्तर वायुमात्र भक्षण करके ठूंठ सदृश स्थिर होकर, खड़े रहने लगे। उसी कालमें गौरइया चिड़ियाके एक जोड़ेने उनकी जटाओंमें अपना खोता बना लिया। महामति जाजलि इसकी कुछ भी परवाह न करके

× ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ मनु अ ११। २३७

अर्थ—मनको वशमें कर फल, मूल वा पवनका आहार करनेवाले ऋषि तपसे ही सचराचर त्रिलोक को प्रत्यक्ष करते हैं।

स्थिर भाव से खड़े रहे। कुछ दिनों बाद उन चिड़ियोंके बच्चे भी आजलिजीके जटामें ही उत्पन्न हुए। (जाजलिजी अपने मनमें यह विचार कर कि इस चिड़ियाके जोड़ेने मुझको निर्जीव ठूंठ समझकर मेरी जटाओं में आश्रय लिया है, यदि मैं हिलूंडोलूं तो ये डरसे खोता छोड़कर भाग जायेंगे और ये बच्चे भी मा बापके बिना मर जायेंगे। अतएव इन चिड़ियोंके उपकारके लिये मुझको स्थाणुवत् निश्चल रहना ही उचित है। ऐसा निश्चय कर जाजलिजी निश्चल खड़े ही रह गये।) कुछ दिनों में वे बच्चे भी बड़े हो गये और जब अच्छी तरह उड़ना सीख गये तब अपने मा बापका आश्रय छोड़कर अन्यत्र चले गये। जब चिड़ियोंके जोड़े ने भी जाजलिजीकी जटामें आना जाना बन्द कर दिया तब जाजलिजी नदी में स्नान कर, अग्नि में आहुति दे, सूर्य की उपासना (जैसा पहले किया करते थे) करने लगे।

एक दिन महामति जाजलि इस चिन्तासे कि मेरे मस्तकपर चिड़ियोंने बसेरा किया और उनके बच्चे उत्पन्न होकर बड़े भी हो गये अतएव 'मैंने ही यथार्थ धर्मका उपार्जन किया है' * ऐसा कहकर आनन्द मना रहे थे कि, इसी बीच में उनको यह आकाशवाणी सुनाई पड़ी—'हे जाजले! आप धर्मके अनुष्ठानमें तुलाधारके तुल्य कभी भी नहीं हो सकते। काशीनिवासी तुलाधार नामका वह महाप्रज्ञावान् महात्मा भी तुम्हारे समान गर्वका वाक्य कहने में समर्थ नहीं है'।

गणेश—वाह! एकही अध्यायमें एकही उपाख्यानका आरम्भ दो तरह से हुआ है! एकमें महातपस्वी जाजलिको राक्षसोंने तुलाधारकी खबर देकर काशीजीका रास्ता बता दिया था, और जाजलिने काशी पहुंचकर तुलाधारसे भेट भी की परन्तु वहाँ दोनों में क्या बातचीत हुई इसका कुछ भी न बताया गया! दूसरे आरम्भमें महातपा और महापरोपकारी जाजलिजीको आकाशवाणीसे तुलाधारका संवाद सुनाया गया!

मायानन्द—हां, जान बूझकर एकही उपाख्यानका आरम्भ दो प्रकार से किया गया है। एकमें जाजलिको यह चेतावनी दी गई कि मनुष्य-समाज-सम्बन्ध-शून्य कायिक तपसे स्ववर्णोचित कर्मोंके द्वारा समाजकी सेवा करना ही श्रेष्ठतर धर्म है। दूसरेमें यह बताया गया कि वानप्रस्थाश्रम धर्मका आचरण और निकृष्ट जीवों पर दया, इन दोनों से गृहस्थाश्रममें रहकर स्ववर्णोचित कर्मोंके द्वारा समाजकी सेवा करनाही श्रेष्ठतर धर्म है। एकमें यह संकेत है कि केवल अपने पारलौकिक मङ्गलके लिये जो साधन है उसकी गिनती धर्ममें है हो नहीं क्योंकि वह स्वार्थपर कर्म है। इसलिये उसकी तुलना समाज-सेवा धर्मके

* 'परोपकारः परमो धर्मः'

साथ हो ही नहीं सकती—इस विचारसे, दूसरे आरम्भमें यह संकेत किया गया है कि इतर प्राणियोंकी सेवा धर्म होने पर भी समाज-सेवा धर्म ही श्रेष्ठ है। अब हम आशा करते हैं कि आगेकी कथामें तुलाधार-जाजलि-सम्वादसे यही बात स्पष्ट होगी।

भीष्मपितामह कहने लगे—"ऐसी दैववाणी सुनकर जाजलिजी क्रोधाविष्ट होकर तुलाधारसे मिलनेके लिए देश देशान्तर पर्यटन करते हुए काशीजीमें जा पहुँचे। वहाँ तुलाधारके पास जाकर देखा कि वह अपनी दूकान पर हृष्टचित्त बैठा हुआ सौदा बेच रहा है। जाजलिजीको देखते ही उस महात्मा वैश्यने झट उठकर बड़े आनन्दसे उनका स्वागत किया और कहा—'ब्राह्मन! आप मुझसे मिलने आये हैं यह मैं समझ गया। अब मैं जो कुछ कहता हूँ सो सुनिये। आपने सागरतट पर रहकर घोर तपका अनुष्ठान किया है, परन्तु धर्मकी यथार्थ महिमा आपने नहीं जानी। आपके तपकी सिद्धि * होने पर, आपके मस्तक पर चिड़ियोंके कई एक बच्चे उत्पन्न हुए थे। आपने उनको कुछ भी त्रास नहीं दिया। परन्तु जब वे बड़े हो गये तब आपको इस बातका गर्व हुआ कि मुझको धर्म ‡ लाभ हुआ है। उस समय दैववाणीसे आपको मेरा सम्वाद सुनाया गया। इस पर आप ईर्षावश होकर मुझसे मिलनेको आये हैं। अब आदेश कीजिये कि आपके हितके लिये मुझे क्या करना चाहिये।'

"महामति तुलाधार जब ऐसा कह चुके, तब श्रेष्ठ जापक महात्मा जाजलिजी बोले—'हे वणिग्नन्दन! तुमने रस, गन्ध, वृक्ष, ओषधि और फल मूल बेचते हुए भी किस तरह ऐसी निश्चला बुद्धि और ज्ञानका लाभ किया सो, मुझसे विस्तार पूर्वक कहो।'

नोट—तुलाधार-जाजलिके वाद्‌विवाद पर मैं अपनी टिप्पणीभी करता जाऊँगा, उस पर ध्यान देते जाना।

"तब धर्मार्थ-तत्ववेत्ता वैश्यकुलोद्भव ज्ञानतृप्त महामति तुलाधार जाजलिजीको सम्बोधन करके कहने लगे—'हे जाजले! सर्व भूत हितकारी पूर्वकालके सनातन धर्मको मैंने जान लिया है। जीव हिंसा न करके अथवा आपत्कालमें थोड़ी हिंसा द्वारा जीविका निर्वाह करना ही श्रेष्ठ धर्म है'।

टिप्पणी—तुलाधारने दो वाक्य कहे। प्रथम वाक्यमें उसने कहा कि सनातन धर्मके मर्मको मैं जान गया हूँ। दूसरे वाक्यमें उसने मनुस्मृति अ० ४ श्लोक २ का अनुवाद मात्र किया। वेदपाठी द्विजवर्ण गृहस्थोंकी उपजीविकाके

* अन्तःकरणकी स्थिरतासे शरीरकी स्थिरता या समाधि। यह सिद्धि दूसरे आरम्भमें बतायी गयी है। पहिले में जो सिद्धि बताई गई है वह श्रोताको आश्चर्य-चकित करने के लिये शब्दालङ्कार मात्र है।

‡ सिद्धि-शक्ति है, धर्म नहीं है।

विषयमें मनुस्मृतिका यह आदेश है—'अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि।' अर्थ '—आपत्तिका समय न हो तो ब्राह्मण किसी प्राणीको बिना पीड़ा दिये, अथवा निर्वाह न हो सके तो थोड़ीसी पीड़ा देकर जो आजीविका चल सके उसीके ऊपर अपना निर्वाह करे।' स्मृतिका यह आदेश ब्राह्मणोंकी आजीविकाके लिए एक नियम मात्र है। इस प्रकारकी आजीविका ही धर्म है ऐसा नहीं कहा है। परन्तु तुलाधारके कथनसे ज्ञात होता है कि अपना पेट पालना ही श्रेष्ठ धर्म है! हां, जहां तक बने, जीवहिंसा वा अन्य किसीको पीड़ा पहुँचानेसे बचना चाहिये। इसके साथ यदि उसके पहिले वाक्यका सम्बन्ध जोड़ा जाय तो अर्थ यही निकलेगा कि **पेट पालना ही सनातन धर्म है**! यदि यह बात सत्य है तो अवश्य जाजलिजी धर्मच्युत हो गये थे, क्योंकि पेट पालनेके लिए उन्होंने भिक्षा तक नहीं की थी। परन्तु, यदि तुलाधार कथित धर्मका यह अभिप्राय हो कि किसीको पीड़ा न पहुँचाकर जीवननिर्वाह करना ही सनातन धर्म है तो जाजलिजीने वायुमात्र भक्षण करके याने कुछ भी न खाकर जीवन निर्वाह किया था। अतएव किस बातमें वे अन्य गृहस्थोंसे धर्ममें हीन समझे गये?

इस उपाख्यानके अवतरणसे हमको यह स्पष्ट आभास मिलता है कि जङ्गलमें तपस्या करनेवाला, जो कि कुछ भी नहीं खाता इसलिये अन्य किसी भी व्यक्तिका नैतिक ऋणी नहीं है—ऐसे तपस्वीसे भी एक गृहस्थ अधिक धार्मिक है। गृहस्थ, किस विचारसे धर्ममें श्रेष्ठ है वा धर्मका आचरणकारी है, वह हमें तुलाधारकी धर्म-व्याख्यासे स्पष्ट मालूम हो जाना था। परन्तु दुर्भाग्य-वश महाभारतकारने उस विचारको तुलाधारके मुखसे स्पष्ट शब्दोंमें प्रकाशित नहीं करवाया। अथवा उस पुरातन आख्यायिकाकी स्मृति ही इतनी अस्पष्ट हो गई थी कि 'सनातन + जीविका' यही दो शब्द प्रकृत धर्मके सम्बन्धमें लोगोंके स्मरणमें रह गये थे और उनका अभिप्राय यही समझा जाता था कि गृहस्थी और स्मृतिके विधानके अनुसार जीविका, सनातन धर्म है। किन्तु गृहस्थीको त्याग कर जङ्गलमें तपस्या करना सनातन धर्म नहीं है। क्यों? इस प्रश्नका उत्तर उनको मालूम न था।

गृहस्थाश्रमकी प्रशंसामें मनुस्मृति कहती है—"यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ यस्मात्-त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥" अ० ३ श्लोक ७७, ७८, ७९। अर्थ—"जैसे सब प्राणी वायुके आश्रयसे जीते हैं, तैसे सब आश्रम गृहस्थके आश्रयसे जीते हैं। क्योंकि, गृहस्थ ही विद्या और अन्नका दान नित्य देकर तीनों आश्रमोंको धारण किये रहता है; अतः गृहस्थाश्रम ही सबसे बड़ा है। जिसको स्वर्गके अक्षय

सुखकी तथा इस लोकके सुखकी इच्छा हो उसको प्रयत्न पूर्वक गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिये। यह आश्रम, अजितेन्द्रिय पुरुषोंके द्वारा धारणके अयोग्य है।"

तुलाधारने 'शास्त्रीय नियमसे पेट पालनेको' सनातन धर्म कहा। वर्णाश्रम व्यवस्थाको भी लोग सनातन धर्म कहते हैं। गृहस्थ एक आश्रम है, इसमें रहनेवाले मनुष्य वर्णोंमें विभक्त हैं और गृहस्थ कहाते हैं। अतएव गृहस्थ भी सनातन धर्मावलम्बी हैं। गृहस्थ अपना और अन्य तीन आश्रमियों—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासीका भी पेट पालता है। मनुभगवान् कहते हैं कि ऐसे पेट पालनेवाले गृहस्थाश्रमीको इस लोकमें और परलोकमें सुख प्राप्त होता है। इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त होता है धर्मसे। सुतरां गृहस्थाश्रम भी 'धर्म' का रूप है और भारतीय आर्योंकी भाषामें उसका नाम है **सनातन**। इस तरह महाभारत और स्मृतिके मिलान करने पर 'सनातन' और 'जीविका' का अति निकट सम्बन्ध है, ऐसा ज्ञात पड़ता है। अतएव हमको, सनातन धर्म क्या है? इसका अनुसन्धान करना है। पहले मैं तुम्हींसे जो अपनेको एक सनातनधर्मी कहते हो, पूछता हूं कि सनातन धर्मके विषयमें तुम्हारी क्या धारणा है?

गणेश—आपने मुझसे एक ऐसा प्रश्न किया है जिसका कोई सीधा (सरल) उत्तर देना मेरे लिए बड़ा कठिन है। "सनातन" धर्मके विषयमें विशेष शास्त्रीय ज्ञान तो मुझमें है नहीं, तथापि पण्डितोंके सत्सङ्ग और पुस्तकोंके अवलोकनसे एवं लोकाचार देखकर इसके विषयमें मेरी जो कुछ धारणा हुई है वह आपके समक्ष वर्णन करता हूं।

वर्त्तमान सनातन धर्म का वर्णन।

(१) 'सनातन' कोई धार्मिक सम्प्रदाय या धर्म-पन्थका नाम नहीं है, जैसाकि बुद्धभगवान्का चलाया हुआ धार्मिक मत "बौद्ध," हजरत ईसामसीहका "ईसाई," हजरत मुहम्मद साहबका "मुहम्मदीय" कहाता है।*

(२) भारतीय आर्य्य मनीषीगणने, मनुष्योंके इहलौकिक और पारलौकिक मङ्गलके लिए जिन कर्मोंको कर्त्तव्य कहकर निर्णय किया है वे सब 'धर्म' संज्ञाको प्राप्त हुए हैं‡। अतएव बिना किसी विशेष नामके, "धर्म"

* किसी भी धार्मिक मतके प्रवर्त्तकने अपने मतका नाम अपने नामसे नहीं चलाया है। किन्तु उस मतके अनुयायी उस मतका नाम प्रवर्त्तकके नामसे रख लेते हैं अथवा अन्य लोग उसका नामकरण प्रवर्त्तकके नामसे करलेते हैं।

‡ "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" अर्थ—प्रेरणात्मक अर्थ युक्त लक्षण जिसका हो वह धर्म है। दृष्टान्त—वेदने जिसके करनेकी आज्ञा दी है उसीका नाम धर्म है। (पूर्वमीमांसा)

शब्द ही हम लोगोंके धर्मका नाम है। हां, पूर्वमीमांसाकारकी सम्मतिके अनुसार हम अपने धर्मका नाम "वैदिक धर्म" कह सकते हैं क्योंकि इस धर्मका आधार वेद † ही माना जाता है।

(३) हमारे यहां वैष्णव, शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य आदि जो नाम पाये जाते हैं वे साम्प्रदायिक या पन्थोंके नाम हैं। और ये सनातन धर्मसे भिन्न नहीं हैं। सब एकही भारतीय या वैदिक धर्म वृक्षकी शाखायें हैं ×।

(४) हम लोग किसी विदेशी धार्मिक सम्प्रदायसे अपना पार्थक्य बतलानेके लिए कहते हैं कि हम हिन्दू हैं। किन्तु यह 'हिन्दू' कोई शास्त्रीय शब्द नहीं है +।

(५) जब हम अपने ही बीचमें (वेदकी प्राधान्यता स्वीकार करने वाले) किसी धार्मिक सम्प्रदाय या पन्थके आचार-विचारसे, चाहे उन आचार-विचारोंकी नींव वेदों पर ही अवलम्बित क्यों न हो, अपना पार्थक्य बतलाना चाहते हैं तब हम अपनेको "सनातन धर्मावलम्बी" या "सनातनी" कहते हैं। ※

(६) अपनेको 'सनातनी' कहने पर भी हम यह दावे के साथ नहीं कह सकते कि हम प्राचीन कालके सभी विचारोंको मानते हैं और सभी आचार और कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। ‡

(७) शास्त्रोंमें जहां कहीं 'यह सनातन धर्म है' ऐसी उक्ति देखनेमें आती है उसका अर्थ है कि 'यह कर्म या आचार प्राचीन कालसे चला आ

† यदि 'वेद' शब्दका अर्थ 'संहिता' न कहकर 'ज्ञान' कहा जाय तो किसीसे भी मत विरोध न हो।

× ये पन्थ या फिर्के सभी मजहबोंमें पाये जाते हैं। पन्थोंसे केवल यही सिद्ध होता है कि मनुष्योंकी रुचिकी भिन्नताके कारण उपासनाकी प्रणालीमें भी भिन्नताकी आवश्यकता है।

+ "सिन्धु" एक नदीका नाम है और समुद्रको भी कहते हैं। सिन्धुका अपभ्रंश 'हिन्दू' है जिससे केवल किसी विशेष देशवासीका अर्थ निकलता है। अब यह धर्माचार विशेषका यानी हम लोगोंके धर्माचारका द्योतक हो गया है।

※ आर्यसमाजके साथ ऐसा पार्थक्य माना जा रहा है। किन्तु विज्ञजनोंमें अब इस पार्थक्य--विचारका लोप होता जाता है।

‡ गृहमें अग्नि की स्थापना और अग्निहोत्र कर्मका लोप एवं इन्द्र, वरुण, वायु आदि अनेक वैदिक देवताओं की आराधनाका लोप, इसका एक मोटा दृष्टान्त है। स्मृतियोंके अध्ययनसे और भी अनेक बातें पाई जायगी।

रहा है'। अतएव शास्त्रोंकी दृष्टिमें 'सनातन' शब्दका अर्थ है 'प्राचीन' (पुराना)। *

(८) परन्तु 'सनातन' शब्दका यह 'प्राचीन' अर्थ यह नहीं बताता कि कितने कालके प्राचीन आचार, विचार और कर्मोंके हम अनुयायी हैं। +

(९) वर्त्तमान परिस्थितिका, शास्त्रोंके साथ मिलान करके विचार करने से इस 'प्राचीन' शब्दका यही अर्थ निकलता है कि प्राचीन आचार, विचार और कर्मोंमेंसे जिनका हमें स्मरण है और जिनको अनुष्ठित होते हम देखते हैं; यदि हम उन्हींके अनुयायी हैं तो हम अपनेको 'सनातनी' कह सकते हैं ×। अर्थात् प्राचीन आचार, विचार और कर्मोंको जोकि प्रचलित हैं, उनको जो बनाये रखे वह 'सनातनी' वा 'सनातन धर्मावलम्बी' है। (१)

(१०) यदि कोई, किसी लुप्त प्राचीन आचार, विचार वा कर्मका पुनः प्रचलन करना चाहता हो वा उसे अपनाना चाहता हो वह सनातन धर्मावलम्बी की दृष्टिमें अनुचित कार्य्य करता है। (२)

(११) वैदिक कालके धार्मिक अनुष्ठान और धर्म शास्त्रोक्त सदाचार सनातन धर्मके मूल हैं। ÷

---

* कोषके अनुसार—सना = नित्य + तन = भावार्थे = सनातन। अर्थ—नित्य सदातन, चिरस्थायी। यथा—"सर्वकाले सना प्रोक्ता विद्यमाने सनेति च।

+ बुद्ध भगवान्‌के आविर्भाव कालके पश्चात् मांसाहार और महाभारतकालके अनेक वर्ष पश्चात् 'नियोग' निषिद्ध हुआ है। इन निषेधों को सनातन आचार मानने से यह सिद्ध होता है कि हम—जिनकी आयुके, वर्त्तमान मन्वन्तरमें आज दिन (१९२४ ई० में), ३८९३०२४ वर्ष बीत चुके हैं—२००० वर्ष से प्रचलित आचार को भी प्राचीन (सनातन) आचार मानते हैं!

× इस सिद्धान्तके अनुसार ईसाई, मुसाई, मुहम्मदी आदि सभी धर्म-पन्थ के अनुयायी 'सनातनी' कहे जा सकते हैं।

(१) अँग्रेजी भाषामें इसको 'कनसरवेटिव' कहते हैं।

(२) पराशर स्मृतिमें विधवा विवाहका विधान है। (पराशर मुनि महाभारतकार वेदव्यासजीके पिता हैं)। इस विधानका लोप ब्राह्मणोंमें कबसे हुआ मालूम नहीं। किन्तु इस समय यदि कोई उक्त विधानके अनुसार विधवा-विवाह पुनः प्रवर्त्तित करना चाहता है तो उसका कार्य्य अनुचित समझा जाता है।

÷ "यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः। सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा। श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै॥" मनु अ० २। ७, ८

अर्थ (ऋषिकुल द्वारा प्रकाशित अनुवाद) "मनुजीने जिस वर्णका जो धर्म कहा है, वेदमें वह सब वैसा ही कहा है, क्योंकि वह वेद सब ज्ञानोंकी खान है। वेदके अर्थ जाननेमें उपयोगी, इस मानवशास्त्रको भले प्रकार जानकर, वेदके प्रमाणके अनुसार, विद्वान् पुरुष अपने धर्ममें तत्पर हो।

(१२) अतएव, वेदों, स्मृतियों, तन्त्रों और पुराणोंके विधानोंके अनुसार जितने धार्मिक कृत्य और सदाचार हैं वे सब मिलकर 'सनातन धर्म' समझे जाते हैं। *

* वेदोंको 'श्रुति' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है 'सुनी हुई बातोंका संग्रह'। अर्थात् जब तक वेदोंके विषय लिपिबद्ध नहीं हुए थे तब तक वे पुरुषपरम्परा के श्रवणद्वारा ही चले आ रहे थे। श्रुतियोंके संग्रह कालके पूर्व, प्रकृतिके सम्बन्धमें जितनी बातें जानी जा चुकी थीं और उपासना एवं समाज-सम्बन्धी जितने कृत्य प्रचलित हो चुके थे, उनमें जितने भूल नहीं गये थे, और श्रुतिसंग्रह कालके समय जिन बातोंका आविष्कार हुआ था, उन सबका संग्रह, प्रसिद्ध चार संहितायें हैं, इनके समझने और तदनुसार कार्य्य करनेके लिये जो ब्राह्मण (ग्रन्थ) हैं, ये दोनों मिलकर वेद कहाते हैं (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्)।

स्मृतिका अर्थ होता है 'सुनी हुई और पूर्वकी अनुभव की हुई बातें, स्मरण शक्तिके द्वारा संगृहीत'। (यद्यपि श्रुति और स्मृति शब्दोंके अर्थ-विचारमें कोई विशेष भेद नहीं दिखता तथापि इन ग्रन्थोंके रूपमें बड़ा भेद है।) समाज सम्बन्धी आचार-विचार और विधि-निषेध जो वैदिक काल में प्रचलित थे, और वैदिक कालके बाद से स्मृतियोंके आरम्भ काल तक जो जो सामाजिक बातें प्रचलित हुई थीं उनमें से जिनका स्मरण था, और स्मृतियोंके कालमें जो जो बातें चलाई गईं, इन सबका संग्रह स्मृति ग्रन्थ हैं।

तन्त्र—वैदिक उपासना सम्बन्धी कृत्योंको तथा अथर्ववेदके आभिचारिक अनुष्ठानोंको योगकी विधियोंके साथ जोड़ कर जो विशेष प्रकारकी उपासना-विधि निर्माण की गई हैं उनका संग्रह तन्त्रशास्त्र है। यद्यपि तन्त्रशास्त्र शिव-शक्ति-उपासना-विधायक शास्त्र कहाता है तथापि तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति से (तनु-विस्तार करना) यह ज्ञात होता है कि यह वैदिक उपासना पद्धतिका विस्तार है। तन्त्र को 'आगम,' और वेद को 'निगम' कहते हैं। अतएव दोनों का परस्पर निकटस्थ सम्बन्ध है। वैदिक उपासनामें प्रत्यक्ष देवताओंकी पूजा होती थी। उनकी प्रतिमा बनानेकी आवश्यकता न थी। तान्त्रिक उपासनामें देवताओंकी प्रतिमा बनानेकी आवश्यकता होती है।

पुराण—वेद, स्मृति एवं तन्त्रके विषयोंको और वैदिक कालसे पुराणोंकी रचना काल तक जिन दर्शनशास्त्रोंका आविर्भाव हुआ है उनके सिद्धान्तों एवं

(१३) वेद, स्मृति, तंत्र और पुराण सनातनधर्मके उपदेशक शास्त्र हैं। इन शास्त्रोंको जो मानता है और उनके अनुसार चलता है; अथवा इनके एक या अधिक विधि–निषेधोंका पालन न करता हुआ भी यदि उनका सम्मान करता है तो वह सनातन धर्मी है। †

(१४) वेदों और स्मृतियोंकी आज्ञानुसार न चलता हुआ भी जो कोई तंत्र और पुराणोक्त देव-देवियोंकी मूर्त्तिकी पूजा करता है, वह सनातनधर्मी है।

अर्वाचीन विद्वानोंके अनुभूत सिद्धान्तोंको तथा आर्यजातिके सुदीर्घ जीवन कालमें जो मुख्य मुख्य घटनायें हुई हैं, और जो प्रसिद्ध राजा राज्य कर चुके हैं उनमेंसे जिनका स्पष्ट और अस्पष्ट स्मरण बना हुआ था, उन सबको गल्पका रूप देकर बड़ी ही रोचक भाषामें जन साधारणकी धर्म-ज्ञानोन्नति एवं पण्डितोंके मनोविनोद और जीविकाके लिए जो संग्रह ग्रन्थ हैं वे पुराण कहाते हैं। पुराण, ब्राह्मणोंकी एक अमर कीर्ति है। इसीके गुणसे आज भी भारतीय आर्यजाति जीवित है और इसीके अतिशयोक्ति एवं रूपक रूपी अवगुणके कारण हमारा बौद्धिक जगत् अन्धकाराच्छन्न है यानी हम लोगों की विचारशक्ति कुण्ठित हो गई है। अभी तक जो कुछ हुआ सो भारतकी पराधीनताके विचारसे अच्छा ही हुआ है, परन्तु अब जमाना पलट रहा है, इसलिये पुराण–वाचस्पतियों को चाहिये कि इसके अवगुणों से भी अच्छे फल निकाल निकाल कर जनता को चखावें।

नोट—वेदादि ग्रन्थोंके जो परिचय ऊपर दिये गये हैं, मेरी अल्पज्ञता के कारण अवश्य त्रुटियुक्त होंगे। इन टिप्पणियोंके देने से मेरा अभिप्राय यह है कि विद्वानों की दृष्टि इनपर पड़ने से वे समझ जायेंगे कि भारतके धार्मिक साहित्यका इतिहास निर्माण कार्य्यके लिये इस ओर कितना विस्तृत क्षेत्र पड़ा हुआ है। (सम्पादक)

† इस कलियुगमें पराशर स्मृतिके विधानानुसार, सनातन धर्मियोंको चलना चाहिये, परन्तु इसके अनुसार बहुत कम लोग चलते हैं। पराशर स्मृतिका एक विधान है कि पति के लापता होने, मरजाने, सन्यास लेने, क्लीव होने और पतित होनेपर, स्त्री अन्य पुरुष से विवाह कर सकती है। ब्राह्मणवर्ग और बङ्ग देशवासी सभी वर्ग इस विधानको नहीं मानते। जो लोग मनुस्मृतिके अनुयायी हैं वे भी ब्रह्मचर्य्य, वाणप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमका ग्रहण करना आवश्यक नहीं समझते। उपनयन संस्कार-विधि की इतनी अवहेलना होने लगी है कि अब विवाह के समय लड़कों का जनेऊ होना आरम्भ हो गया है। वेदाध्ययन, वैदिक याग यज्ञ और अग्निहोत्र तो बन्द ही हो गये हैं। स्मृतियोंके प्रतिकूल कितने कर्म हो रहे हैं उसका लेखा बताया जाय तो एक खासी सूची बन सकती है।

(१५) सनातनधर्म रूपी वृक्षके दो काण्ड हैं—एक कर्मकाण्ड, दूसरा ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड की शाखायें ये हैं—१६ संस्कार, यमनियमादि आचारों का पालन, पितरोंका श्राद्ध, भगवान् विष्णु और अन्य देवताओं की प्रतिमाका पूजन, तीर्थयात्रा, संध्यावन्दन, होम, व्रत एवं दान पुण्य आदि—ये सब सनातनधर्मावलम्बी गृहस्थों के करणीय हैं। इन कर्त्तव्योंमें से जो कोई मृत माता पिता का सूतक नहीं मानता और मूर्त्तिपूजा नहीं करता है वह सनातन धर्मी नहीं गिना जाता। अथवा साधारणतया अन्य सब कर्त्तव्यों को न करता हुआ भी यदि केवल सूतक मानता है और मूर्त्तिपूजा करता है तो वह सनातन धर्मी है। ‡

ज्ञानकाण्डकी दो शाखायें हैं—एक ब्रह्मविचार, दूसरा आत्मविचार। यद्यपि सनातन धर्मका प्रधान लक्ष्य मुक्ति है, एवं बिना ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के, लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, तथापि यदि कोई गृहस्थ ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञानका परिचय देता है तो वह उपहासास्पद होता है ×। ज्ञानमार्ग पर चलनेका अधिकार केवल सन्यासियों को ही है यह माना जाता है।

(१६) भक्ष्याभक्ष्य के सम्बन्धमें स्मृतियोंके नियमानुसार न चलने पर भी अपनेको सनातन धर्मी बतलाने में कोई बाधा नहीं होती +। किन्तु उसे मूर्त्तिपूजक अवश्य होना चाहिये।

(१७) शिखा (चुटिया) सनातन धर्मका विशेष चिह्न है ÷।

(१८) सनातनधर्म वर्ण और आश्रम पर प्रतिष्ठित है। वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सनातनधर्मको इन चार वर्णोंमें से किसी एक वर्णमें अपनी उत्पत्ति माननी पड़ती है* चाहे वे जीविकाके लिए किसी भी

---

‡ अनुसन्धान करने पर इस आक्षेप की सत्यता ज्ञात पड़ेगी।

× यदि कोई ब्रह्मज्ञानी वा आत्मज्ञानी सनातनी, अछूत जातिका छुआछूत न माने तो वह भ्रष्टाचारी समझा जाता है। ऐसे सन्यासी भी अवज्ञाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं।

+ मछली, लहशुन, प्याज आदि के अभक्ष्य होने पर भी (मनुस्मृति अ० ५—१४, १९) इनके खाने वाले सनातन धर्म से पतित नहीं होते।

÷ बहुतेरे अंगरेजी शिक्षित नवयुवक, सनातन धर्मावलम्बी घरानेके होते हुए भी शिखा रखना अनावश्यक समझते हैं।

* नामके साथ जो उपाधि रहती है उससे बिना पूछे ही मालूम हो जाता है कि वह व्यक्ति किस वर्णका है।

वर्णका काम करते हों और अपने गुण और स्वभावसे अन्य किसी भी वर्णके अनुरूप क्यों न हों = ।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वाणप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम । इनमें गृहस्थाश्रमकी दशामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है ; सन्यासाश्रम मुमूर्षु दशामें है । ब्रह्मचर्य्याश्रम—गुरुकुल, ऋषिकुल, संस्कृत पाठ–शाला और स्कूल कालेजके बोडिङ्ग हाउस वा होस्टल (छात्रावास) में परिणत हो गया है । एवं वाणप्रस्थाश्रम—साधु, वैरागी, एवं सन्यासियोंकी कुटीर, मठ और मढ़ी में रुपान्तरित हुआ है ।

(१६) सनातन धर्मके साधारण लक्षण —१. मूर्त्तिपूजा, २. श्राद्ध ३. छुआछूतका विचार यानी (क) हिन्दू धर्मसे भिन्नमतावलम्बीका छुआ जल तक न पीना । (ख) सनातन धर्मावलम्बी अन्त्यज जातिके मनुष्योंको भी न छूना और न उनका छुआ जल ही पीना । (ग) ऐसे लोगोंका अन्नजल मुखमें जाने से धर्मभ्रष्ट होता है ऐसा मानना ।

सनातन धर्मके विषयमें मेरी जो कुछ धारणा है, मैंने कह सुनायी । आपने कहा है कि 'सनातन' और 'जीविका'का अति सामीप्य सम्बन्ध है । किन्तु कोई भी सनातनी ऐसा नहीं मानता न ऐसा होनेका सन्देह ही करता है कि जीविका भी कोई धर्म अथवा किसी धर्मका अंग हो सकती है, बल्कि यह सुनने से लोग हंसते हैं । आज तक किसी भी धर्म–मत में जीविकाको धर्मका रूप नहीं दिया गया है । भला, जीविकाको धर्मके साथ कैसे मिलाया जा सकता है ! पशुके लिये भी क्या कोई पारलौकिक मंगलकी कल्पना करता है ?

मायानन्द—नहीं, किन्तु पशु और मनुष्योंकी जीविकामें बड़ा अन्तर है । घास पात भोजी जंगली पशु, जंगलमें चरकर अपना पेट भरता है, उसमें एककी जीविकाके साथ अन्यके जीवन निर्वाहका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता । इसलिये पशुकी जीविकामें कोई धर्मका प्रश्न नहीं उठता । किन्तु जब वही पशु किसी गाड़ीवालेके आश्रयमें आजाता है और उस–के दिये चारेसे पेट भरता है तब गाड़ी खींचना उसका कर्त्तव्य हो जाता है । इस कारण, अच्छी तरह गाड़ी खींचने पर उसे दाना–खली मिलती है और न खींचने से चाबुक और गाली मिलती है ; क्योंकि इस पशुके श्रम पर उस गाड़ीवानकी जीविका और जीवन निर्वाहका सब साधन अवलम्बित रहता है ।

= यदि कोई सतोगुणी शूद्र कालेज में संस्कृतका प्रोफेसर है तो भी वह "शूद्र" कहकर अपना परिचय देगा, और यदि कोई ब्राह्मण किसी दक्षिणी पंडितके यहां पानी भरता है तो भी वह अपनेको ब्राह्मण कहकर परिचय देगा । ब्राह्मण जुआड़ी होकर भी ब्राह्मण और भगत (तिलक, माला, कंठीधारी, अच्छे आचार निरत) शूद्र भी शूद्र कहकर अपना परिचय देगा ।

जब मनुष्य-समाजमें आजाने से जंगली जानवरोंका भी जीविकाके साथ कर्त्तव्य-विचार जुट जाता है, तब मनुष्य जो कि मनुष्योंके साथ मिलकर समाजमें सम्मिलित रहता है, और जिसकी जीविकाके साथ समाजके अन्य मनुष्योंके जीवन-निर्वाह के साधनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है—जैसा कि समाज-तत्वका विचार करते हुए मैं पीछे बतला चुका हूं—उसकी जीविकाके साथ धर्मका विचार क्यों नहीं सम्मिलित होगा। मेरी समझमें तो समाजमें रहनेवाले मनुष्योंकी जीविका स्वयं ही एक धर्म हो जाता है क्योंकि मनुष्यके साथ पारलौकिक मङ्गलकी कल्पना भी तो लगी है। अस्तु।

'सनातन' शब्द को आश्रय करके जो हिन्दू-धर्म इस समय प्रचलित है उसकी तुमने अच्छी लम्बी चौड़ी वर्णना की। तुम इतनी लम्बी वर्णना करोगे मुझे यह आशा न थी। तुमने स्वयं ही कहा है कि इस धर्मका (हिन्दू धर्मका) नाम सनातन नहीं है; इसकी प्राचीनताके कारण लोग इसे सनातन वा सदातन कहते हैं। स्वर्गवासी लो. मा. तिलक महोदयने इसका नाम 'हिन्दू धर्म' मानकर एक श्लोकमें इसका लक्षण यों बतलाया है—"प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता। उपास्यानामनियमो हिन्दूधर्मस्य लक्षणम्॥—अर्थ—वेदोंमें प्रामाण्य बुद्धि रखना, जिस जिसको जो जो नियम सुभीते के दिख पड़ें वे उनको करें, जिस जिसको उपास्य देव मानें उसको पूजें, बस यही हिन्दू धर्म है" †। तुम्हारी वर्णना इसी का भाष्य है। मानव प्रकृतिके विचारसे हिन्दू धर्म एक अत्यन्त उदार धर्म है और पृथिवी पर जितने धर्म मत प्रचलित हैं सब का अन्तर्भाव इसमें होता है। अस्तु।

अब मैं अपने प्रसंग पर आता हूं। तुलाधारके कथन पर विचार करते हुए मैंने कहा था कि "गृहस्थाश्रम भी धर्मका रूप है और भारतीय आर्यों की भाषामें उसका नाम **सनातन** है।" और यह भी कहा था कि "महाभारत और स्मृतियोंके मिलान करने पर 'सनातन' और 'जीविका' का अति निकटस्थ सम्बन्ध पाया जाता है। अतएव सनातन धर्म क्या है इसका अनुसन्धान करना है।" इस कथनसे मेरा यह अभिप्राय था कि हमारा धर्म प्राचीन काल से चला आता है, इसलिये हम इसे सनातन नहीं कहते परन्तु इसका नाम ही "सनातन धर्म" है। हां, जो लोग इस सनातन शब्द का अर्थ प्राचीन बतलाने के लिये सना+तन=सनातन वा सदा+तन=सदातन शब्दोंका उपयोग करते हुए अर्थ करते हैं—'सदासे चला आता वही सनातनहै' ‡ उनसे मैं इस धर्मके केवल

† आर्य समाज का इतिहास पृ० १२० से उद्धृत।

‡ आर्य समाजका इतिहास पृ० २५९ देखो।

एक लक्षण पर सहमत हूं। यह है, छुआछूत सम्बन्धी विचार। यह विचार वेद में पाया जाता है, स्मृतियों में पाया जाता है, पुराणों में पाया जाता है और आज दिन (वि. स. १९८१ में) भी पाया जाता है। शुक्ल यजुर्वेद अ० १. मन्त्र १३ के चौथे पादमें ऋषि कहते हैं।—

"दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वन्देवयज्यायै
यद्वो शुद्धाः पराजघ्नुरिदंवस्तच्छुन्धामि।"

अन्वय—"दैव्याय कर्मणे देव यज्यायै शुन्धध्वम्। अशुद्धाः वः यत् पराजघ्नुः तत् इदं वः शुन्धामि।"

अर्थ—हे कृष्णाजिन उलूखल आदि यज्ञपात्रो! तुम ईश्वर सम्बन्धी कर्म या देव सम्बन्धी याग क्रियाके लिए शुद्ध हो जाओ। (अशुद्धाः) नीच जाति (बढ़ई आदिने) तुम्हारे जिस अङ्गको छीलने आदिके समय अपने हस्तस्पर्श से अपवित्र किया था, तुम्हारे उस अङ्गको इस प्रोक्षणसे शुद्ध करता हूं।" इस मंत्रको ऋषिकी मानसदृष्टिमें उदय हुए कितने सहस्र वर्ष हो चुके इसका पता नहीं तथापि, अनुमान से दश हज़ार वर्षसे कम न हुए होंगे। उस प्राचीन कालमें भी शिकारी या चमार के द्वारा बनाया हुआ कृष्णाजिन (मृगचर्म), लकड़ी के सामान बनाने वाले बढ़ई आदि से बनाये उलूखल, श्रुवा आदि एवं अन्य जितने प्रकारके पात्र उस समय यज्ञके काममें आते रहे हों, वे मिट्टी, लोहा, ताम्बा या बांस चाहे जिसके बने हों, सब के सब उक्त मंत्रोंसे जल सींच कर शुद्ध कर लिये जाते थे। इन नाना प्रकारके पात्रोंके बनाने वाले श्रमी और शिल्पी सबके सब 'अशुद्धाः' अपवित्र अशुचि और नीच समझे जाते थे! वही धारणा आजलों चली आ रही है केवल "श्रमी और शिल्पी" के बदले वे अंत्यज और शूद्र कहाते हैं। इस धारणाको हटानेके लिए सैकड़ों ज्ञानियों ने वेदान्तकी दुहाई फेरी, भगवानने स्वयं राम व कृष्णावतार में † अपने आचरणका दृष्टान्त लोगोंके सामने रखा, पर सब चेष्टा व्यर्थ हुई! इसलिये मुझे 'हिन्दू धर्म' को **सदातन** धर्म कहने में कोई आपत्ति नहीं।

परन्तु वर्त्तमान परिस्थिति और लोगोंकी धारणाके अनुसार इसके **सनातन** कहलानेमें मुझे आपत्ति है ‡।

---

† रामावतार में श्री रामचन्द्रने निषाद को गले लगाया था, और कृष्णावतारमें शूद्रागर्भोत्पन्न विदुरका साग-भात श्रीकृष्णने खाया था।

‡ जिला नैनीतालके लेओलोकोट-आश्रम निवासी बंगाली परमहंस श्रीमत् सोहं स्वामीने सोहंगीता के नामसे एक अपूर्व विचारपूर्ण मौलिक पुस्तक आत्मतत्वके विषय पर प्रकाशित की है। यह पुस्तक बङ्गला भाषा और पद्यमें रची गई है। इस पुस्तककी भूमिकामें आपने जो विचार वर्त्तमान सनातन धर्म पर प्रकाशित किया है, उसका अनुवाद दिया जाता है—"भारत सन्तान इस समय दुर्भाग्यवश उपधर्मों से ग्रसित है। ब्राह्मण,

सनातनधर्म क्या है ?

सनातन धर्मका अर्थ "समाज सेवा धर्म" है।

श्रीगीतामें, चतुर्वर्ग फल देनेवाला जिस वर्णाश्रम धर्मका प्रचार भगवान् श्रीकृष्णने किया है उस धर्मका नाम "सनातन धर्म" है। इस धर्मके साथ वर्णाश्रमके सम्बन्धको देख कर लोग वर्त्तमान हिन्दु धर्मको भी सनातन सनातन कहके पुकारते हैं, किन्तु जब इसकी व्युत्पत्ति पूछी जाती है तब 'सदातन' कहते हैं। इस स्थलपर मैं सनातन धर्मका केवल दिग्दर्शनमात्र कराता हूँ, इसका विस्तृत विचार मुक्ति प्रकरण में करूंगा। तबतक तुमको वर्णाश्रम धर्मका इतना ज्ञान हो जायगा कि मेरे कहा हुआ 'सनातनधर्म' ही इस संसार में मानव धर्म है और उसके रूपकी कल्पना भारतमें वर्ण और आश्रममें की गयी है इसका निश्चय तुम्हे हो जायगा।

क्षत्रिय वैश्य, शूद्र सबके सब धर्म भ्रष्ट और पतित हैं।

संयत हृदय, निस्पृही, आत्मध्याननिमग्न वेदवक्ता ऋषियोंका धर्म इस समय कौन पालन कर रहा है ?

वीर जामदग्नि, द्रोण, द्रौणि, कृपादि दुर्द्धर्ष ब्रह्म तेजोदीप्त महाधनुर्धर जितने आचार्य्य वैदिक काल में हो चुके हैं उनके धर्मानुयायी अब कौन है ?

कर्मस्रोत से भारत जब प्लावित था, तब बौद्ध धर्मका अभ्युदय हुआ था, उस निर्वाण--धर्म को भारत सन्तान ने निराकृत कर दिया।

शंकर रूपी सूर्यके अस्त होनेपर भारत पर महामोहका अन्धकार छा गया। तबसे भारत के आकाशमें ज्ञानप्रभाकरका फिर उदय न हुआ। भारतका आकाश अविद्यामेघसे चिरकालके लिये आच्छन्न हो गया।

महा भयंकर आंधीकी तरह भारत पर यवन--विप्लव प्रारंभ हुआ जिससे भारतीय दुर्बल समाज विध्वस्त हुआ और धर्मका मूल उन्मूलित हो गया। नये उपधर्मोंके चलाने वालोंका क्रम क्रम से अभ्युदय हुआ। वेद वेदान्तादि लुप्तप्राय हुए और पुराण--मतका प्राबल्य हुआ। अन्न, जल, छुआछूत के संकीर्ण संस्कार मोक्ष--धर्म माने जाने लगे। (क)

मूर्त्तिपूजा, नाम--गुण संकीर्तन, प्रेमाश्रु वर्षण, ये धर्मके साधन हुए। शत शत सम्प्रदाय संगठित होकर आपस में एक दूसरे का हिंसा--द्वेष करने लगे। ऋषिसन्तान आर्य धर्म को छोड़कर ऐसे उपधर्मों को अपना पैतृक सनातन धर्म समझने लगी। इसीसे आजदिन भारत अपने ही अश्रुजल में डूब रहा है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तिके क्षीण हुए विना कोई मानव समाज पतित और पददलित नहीं हो सकता।"

(क) मेरी समझमें नये उपधर्मोंके चलाने वालोंकी बदौलत भारतमें प्राण अवशेष रह गया है, अन्यथा वह भी चला जाता। संकुचित विचारोंको फैलाकर ही भारतकी जातीयताकी रक्षा उस समय की गई थी। परन्तु अब समयने ऐसा पलटा खाया है कि उदार विचारोंके बदौलत ही भारत स्वाधीन और उन्नत हो सकता है। संकुचित विचारसे तो इसका गला घुट रहा है।

(१) संस्कृत 'सन' शब्द सन् धातुसे बना है जिसका अर्थ है दान करना, सेवा करना।
(२) 'सनक' शब्द सन + अक प्र. से बना है जिसका अर्थ है सेवा करनेवाला।
(३) 'सना' शब्द सन + आप् प्र. से बना है जिसका अर्थ है **सेवा**।

(४) 'सनातन' शब्द, सना + तन (सना = सेवा + तन = भाव) से बना है जिसका अर्थ है **सेवा-भाव**। +

अतएव 'सनातन धर्म' का अर्थ होता है 'सेवा धर्म'। यहां प्रश्न यह होता है कि किसकी सेवा करना? उत्तर है—समाज भगवान्, देश भगवान, जाति भगवान, राष्ट्र भगवान् और लोकभगवान् की सेवा करना। इसके आगे अब जितने प्रश्न उठाओगे गीतासे ही उनका उत्तर मिल जायगा।

समाज-सेवा या वर्णधर्मकी जो वर्णना पहले × हो चुकी है उसको स्मरण करने से देखोगे कि समाज-सेवाके साथ समाज-सेवियों की जीविकार्जनी वृत्तियां किस प्रकार मिली हुई हैं। अभी कुछ क्षण हुए मैंने कहा है कि 'सनातन' और 'जीविका' का अति निकट सम्बन्ध है। जीविकाके उपाय भी 'सेवा कर्म' हैं और सनातनका अर्थ भी 'सेवाभाव' है। इन दोनों—सेवा कर्म + सेवाभाव—को जोड़ने से यह कार्य्य विधि बनती है—सेवा भाव से सेवा कर्म करना। अब इसी विधी पर विचार कर लेने से सनातन धर्म क्या है समझमें आ जायगा। —

(१) जब स्वार्थ भावसे यानी अपने और कुटुम्ब वर्गके भरण पोषणकी एवं अर्थ सञ्चयकी भावनाको मनमें धारण करके सेवाकर्म किया जाता है तब वह कर्म स्वरूपतः जीविका कर्म है और वह धर्मसे रहित है। क्योंकि ऐसी स्वार्थ भावनायुक्त मनुष्य अपनी और परायेकी दृष्टिमें नीचा है। धर्म, मनुष्योंके मनको सन्तुष्ट बनाये रखता है; किन्तु ऐसे मनुष्यका मन सर्वदा झुंझलाया हुआ यानी असन्तुष्ट रहता है। वह अपनी जीविकाको नौकरी,

+ स्वामीजी की बतायी हुई व्युत्पत्तियाँ कोष के अनुसार ठीक हैं किन्तु कोष में सना और सनातन शब्दों के अर्थ-- सर्वदा, नित्य, चिरस्थायी भी लिखे हुए हैं। इसी आधार पर अति प्राचीन काल से चली आती हुई हमारी वर्णाश्रम--व्यवस्था को लोग सनातन धर्म कहते हैं। चूंकि समाज की सेवा के ही लिये वर्णव्यवस्था चलाई गई थी इसलिये समाज की सेवा करना वर्णोंका कर्तव्य है, अतएव धर्म है। इस विचार से समाज सेवा धर्मका नाम सनातन धर्म है ऐसा सिद्ध होता है। स्वामी जी के अनुसन्धान से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि हम अपने धर्म के आदर्श से गिर चुके हैं।

× गीतानुशीलन प्रथम खण्ड देखो।

दासत्व, या गुलामी कहता है और अपने वेतनमें बरकत * नहीं देखता। वह अपनी जीविकाको रोज़गार और दुकानदारी कहता है और लाभ हानिके पीछे हैरान रहता है; वह अपनी जीविकाको मज़दूरी कहता है और श्रमसे पिसे जानेका रोना, रोता रहता है। स्वार्थमयी जीविकाकी जब ऐसी प्रत्यक्ष दशा है तब कौन बेवकूफ उसे धर्म संज्ञा देगा? मैं भी ऐसी जीविकाको धर्म मानने का समर्थन नहीं करता। ऐसी जीविकासे परलोकका कोई सम्बन्ध नहीं है। सिवा पेट पालनेके और कोई तथ्य इसमें नहीं है। अन्य तथ्योंके लिए ऐसे लोगोंको अपनी कमाईके धनसे दान, पुण्य और अन्य नाना प्रकारके यत्न करने पड़ते हैं तब कहीं उनका पार लगता है। तुलाधारने अपने मनसे ही 'पेट पालनेको' सनातन धर्म नहीं कहा, 'शास्त्रीयनियमसे पेट पालनेको' सनातन धर्म कहा है।

(२) स्वार्थ भावनाओंके विपरीत परार्थ भावनासे यानी अपनेसे भिन्न दूसरेके सुखको लक्ष्यमें रखकर कोई कर्म करना 'सेवा भावसे सेवा कर्म करना' है। इसी प्रकार रामके किसी कर्मसे यदि श्यामको सुख होता है तो श्याम को भी चाहिये कि वह अपने गुण और शक्तिके अनुसार रामके सुखके लिए कोई कर्म करे। इस रीतिसे परस्परके सुखके लिए कर्म करना 'सेवाभावसे सेवा कर्म करना है'। इस तरह परस्परके सुखकी कामनासे जो कर्मोंका आदान-प्रदान है वह 'सनातन' है। सनातन शब्दका एक और अर्थ 'दानभाव' भी होता है यथा— सन् (दान करना) + आच् = सना = दान। सना + तन् = दान भाव। इस दान भावमें दूसरेको अपना स्वार्थ दे देना यानी स्वार्थका त्याग करना, अपने शारीरिक और मानसिक परिश्रमको दूसरोंके लाभके लिए दे देना, अपने प्राणों तकको दूसरेके काममें लगा देना, अपना द्रव्य दूसरोंके सुखके लिए दे देना, इत्यादि जो दान-कर्म हैं वे 'सनातन' कहाते हैं। इन कर्मोंसे, यानी स्वार्थ के त्याग और परार्थमें जीवन उत्सर्ग करनेसे मनुष्योंकी आध्यात्मिक उन्नति होती है—आध्यात्मिक उन्नतिका फल मानसिक शान्ति है। इसीलिये सेवा × वा दानभाव मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ धर्म माना गया है क्योंकि यह मनुष्योंको शान्तिमें स्थिर रखता है। पुनश्च, यही सेवाभाव उस समय भारतमें स्मार्त्त धर्म हो गया यानी लोगोंके लिये शास्त्रीय विधान हो गया, जब समाज-शासकोंने इससे समाजका अभ्युदय और व्यक्तियोंका निःश्रेयस् सिद्ध होना निश्चय करके वर्ण-व्यवस्थाके द्वारा इसका विधान कर दिया। तबसे, निःस्वार्थ और निष्कामभाव से, स्वार्थ—त्याग की भावनाके द्वारा अपने अपने गुण-कर्मानुसार वा ईश्वर कल्पित

* आयसे व्ययका पूरा न पड़ना और कुछ न बचना।

× बुद्ध, परमात्मवादी न होने के कारण सेवा शब्दके बदले उपकार शब्दका उपयोग करते थे।

योग्यताके अनुसार अपने समाज, देश वा राष्ट्रकी सेवा करना 'सनातन धर्म' कहाता है। "सनातन धर्म" मनुष्य मात्रका धर्म है किन्तु भारतके पूर्वकालिक जिस जातिने इस धर्मका पहिले पहिल आविष्कार किया था, और अपने जीवनमें इसका आचरण किया था उस जातिने पृथ्वीके अन्य जातियोंके द्वारा 'आर्य्य' नाम प्राप्त किया था। अर्थात् अन्य सब जातियाँ उसे पूज्य, श्रेष्ठ और अपना स्वामी समझती और मानतीं थीं। उसी आर्य्य जातिके लोग जब स्वार्थभाव, सकामभाव एवं परार्थ त्यागकी भावनासे अपने अपने गुण-कर्मानुसार वा योग्यताके अनुसार अपने अपने स्त्री, पुत्र, वा परिवारकी ही सेवा करने लगे तबसे वे पुजारी (अपनी जातिसे भिन्न दूसरेकी पूजा करने वाले), सेठ (रोज़गारमें शठता करना मनुस्मृतिके अनुसार वैश्य माननेवाले) और दास (शूद्र तो मुसलमानी राज्यके पूर्व भी दास थे ही अब क्षत्री भी अपनी जातिसे भिन्न दूसरोंको भी अपना स्वामी कहने लग गये) कहाने लग गये। परन्तु इतना परिवर्त्तन होने पर भी यह जाति केवल जातीय संस्कार-वश ही अपनेको आर्य्य और सनातन धर्मी कहकर प्रलाप करती है!—अरे, तुम्हारी आंखों में आंसू क्यों भर आये?

गणेश—आपके शब्द मुझे तीर सरीखे बेध रहे हैं।

मायानन्द—तो अपना चरित्र सुधारनेका उपाय सोचो और यत्न करो।

गणेश—एक व्यक्तिके सुधरने से क्या होता है। यदि मैं निःस्वार्थ भावसे नौकरी करता रहूँ, मालिकसे छुट्टी न मांगू, वेतन-वृद्धि करनेको न कहूँ तो मालिक समझेगा कि अच्छा सन्तोषी और निःस्वार्थी नौकर मिल गया—फिर न वे अपने मनसे रियायती छुट्टी ही देंगे न वेतन ही बढ़ावेंगे। इधर बाजारमें कोई सौदा खरीदते समय जब मैं मोल-भाव न करूंगा और बेचने वालेको रुपया देकर कहूँगा कि 'इसमेंसे सौदेकी वाजिब कीमत लेलो' तब वह मुझे एक अच्छा उल्लू समझकर आठ आनेकी जगह सात आने, छः आने, पांच आने या चार ही आने लौटा देगा और मुझे उसकी बेईमानी पर गम खाते दांतो-पसीना आ जायगा। इधर घर पर जब देखूंगा कि कहारिन १।।) माहवार पर जाड़ेमें बर्तन मलती है तो उसको गरम पानी देना चाहिये क्योंकि उसकी आय कम होनेके कारण वह बेचारी रुई भरा कुर्ता नहीं पहिन सकती। अतएव १।।) से २) वेतन कर देना चाहिये। इसी तरह धोबी, मेहतर आदि सभीके साथ व्यवहार करने लगूंगा तो फल यह होगा कि अभी जो भर पेट खाता हूँ सो आधा पेट खानेको मिलेगा। क्योंकि आय तो बढ़ी ही नहीं और खर्च बढ़ गया। अभी तो आप देख ही रहे हैं कि कम आमदनीके कारण आपका उदयचन्द्र कालेजमें भर्ती न हो सका और चित्रवतीके विवाहके लिये रुपया नहीं जुड़ रहा है।

मायानन्द—(हंसकर) तुम्हारी इन कठिनाइयोंको जानते हुए भी मैं तुमसे यही कहूँगा कि जब तुमको सनातन धर्मका ज्ञान हो गया है और अपना कर्त्तव्य समझ चुके हो तब तुम सब चिन्तायें छोड़कर अपना कर्त्तव्य करो।

गणेश—मैं आपकी आज्ञा हृदयसे धारण करूंगा और अन्य विषयोंमें यथासाध्य उसको पालन करने की चेष्टा करूंगा, किन्तु जब तक आप मुझे यह नहीं बताते हैं कि यह पतित आर्यजाति किस तरह अपने पूर्व सनातन-धर्म पर पुनः आरूढ़ होगी, तब तक मुझे, विना मोल किये वा चार दूकानें देखे सौदा खरीदने अथवा विना मजदूरी तय किये किसीसे काम लेने का साहस न होगा।

मायानन्द—जब कोई जाति एकबार अपने धार्मिक आदर्श से गिर जाती है तो पुनः उस आदर्श तक चढ़नेमें उस जातिके व्यक्तियोंको कितनी बाधायें दीख पड़ती हैं, यह तुम्हारे निराशामय वाक्योंसे जान पड़ता है। अधःपतित जातिके पुनरुत्थानमें उस जातिका पौरुष ही प्रधान कारण होता है। किन्तु जाति, व्यक्तियोंका समूह होनेसे उस पौरुषका प्रकाशित होना व्यक्तियों पर अवलम्बित रहता है। व्यक्तियोंमें सामूहिक रूपसे कार्य्य-करने की प्रवृत्ति जागरित करनेमें दैव वा अदृष्ट कारण होता है। नेता, तथा उपदेशकर्त्ता उपायके बतलानेवाले और पथप्रदर्शक मात्र होते हैं। भाग्यवशात् हम लोगोंके लिये श्रीगीता उपदेशकर्त्री वर्त्तमान हैं। नेताओंका भी अभाव न होगा। रहा मूल साधन —जनतामें प्रवृत्ति—सो तुम्हारे आंसू मुझे अच्छे शकुन जान पड़ते हैं। हमारी जातिके उत्थानके लिये सनातन धर्म पर श्रीगीतामें क्या क्या उपदेश हैं, मन्त्रोंकी व्याख्याके समय तुम सुनोगे। अब इस विषय पर अधिक वाद न करके—क्योंकि भगवत् वाक्यके आधारके विना उसका विचार करना निरर्थक होगा—मैं तुलाधार-जाजलि सम्वादके विषयमें अग्रसर होता हूँ।

गणेश—आपकी सम्मति शिरोधार्य्य है।

मायानन्द—तुलाधार जाजलिजीसे कहने लगा—"मैं (इस सनातन) धर्मके अनुसार कटी लकड़ी और तृणके खरीदने-बेचने से जीविका निर्वाह करता हूँ। अलक्त, पद्मकाष्ठ, तुंगकाष्ठ, कस्तूरी, आदि गन्ध द्रव्यों और शराबके सिवा नाना प्रकारके रसोंके, **निष्कपट लेन-देन से** अपनी आजीविका करता हूँ।" (२)

टिप्पणी—जिस वणिग्वृत्तिसे वैश्यवर्णका जीवन निर्वाह होता है उसीको यहां वैश्यका सनातन धर्म कहा। ऐसा ही अन्य वर्णोंका भी समझना चाहिये। इसीसे मैंने भी " जीविका निर्वाहोपयोगी अपने अपने कर्मोंमें ······" ऐसा अर्थ भगवान्के प्रतिज्ञा रूप मन्त्र (स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः इति) का किया है। आक्षेप इस बातका है कि इस उपाख्यानके रचयिताको समाजतत्व

तथा सनातनधर्मका स्पष्ट ज्ञान न था; इसी कारण तुलाधारके मुखसे "खरीदने-बेचने से मैं **अपना जीवन निर्वाह** करता हूँ" ऐसा कहलाया है, अन्यथा **'खरीदने-बेचने से समाजकी सेवा करता हूं'** ऐसा कहलाया होता। तथापि रोज़गारमें झूठ बोलना और कपट व्यवहार करना वैश्योंके लिये अधर्म है ऐसी चेतावनी दी है॥। यदि उपाख्यानकारने तुलाधारके मुखसे केवल इतनी ही बात कहलाई होती कि "वृत्तिके बिना किसीका जीवन निर्वाह नहीं हो सकता और समाजके बिना वृत्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं—सामाजिक मनुष्योंकी ऐसी परिस्थिति होनेके कारण, अपनी अपनी वृत्तिको समाज सेवा तथा अपनेको समाजका सेवक समझकर स्वार्थ रहित होकर प्रेमभावसे अपनी अपनी वृत्ति-सम्बन्धी कर्मोंका करना ही मनुष्योंका धर्म है, क्योंकि इसीसे उनको लौकिक और पारलौकिक कल्याण प्राप्त होता है", तो जिस बातको समझानेके लिये मैं यत्न कर रहा हूँ वह बात स्पष्ट और निर्विवाद सिद्ध हो गई होती। जाजलिजो को भी इस बातका ज्ञान हो गया होता कि वह समाजका अङ्ग है, समाजमें उत्पन्न और परिवर्द्धित होनेसे वह समाजका ऋणी है, और मरनेके बाद यदि फिर उसको जन्म लेना है तो समाजमें ही उसका जन्म होगा; अतएव समाजकी स्थिति और उन्नतिके लिये अपने वर्णकी वृत्तिके अनुरूप कर्मोंका करना ही उसका कर्त्तव्य है, न कि समाजको छोड़कर केवल अपने निःश्रेयस् या पारलौकिक सुखके लिए जङ्गलमें वा समुद्र किनारे तपस्या करना उसका कर्त्तव्य हो सकता है—चाहे ऐसा करनेमें जीवन-निर्वाहके लिये समाजकी भिक्षादान रूपी सहायता की अपेक्षा न भी हो।

तुलाधार कहने लगा—"जो सबका सुहृद् है और जो शरीर, मन, और वाणी से सबके हितका अनुष्ठान करता रहता है वही यथार्थ में धर्मका जाननेवाला है। अनुरोध, विरोध, द्वेष और कामनाका परित्याग एवं सब प्राणियों में समदृष्टि रखना ये सब मेरे प्रधान नियम हैं। गगन-मंडल जैसे मेघादिके सहयोगसे नाना प्रकार के आकार धारण करता है, वैसेही एकही जगदीश्वर, सर्व जीवोंमें रहकर, नाना प्रकार के वेष धारण करता है; ऐसा विचार करके मैं दूसरोंके कार्योंकी न प्रशंसा करता हूँ न निन्दा करता हूँ। मैं सब लोगोंको समान जानता हूँ। मैं अन्धे, बहिरे, और पागलकी तरह विषय भोगोंसे रहित होकर दिन काटता हूँ। वृद्ध, आतुर और दुर्बल व्यक्तियोंकी नाईं मुझमें भी अर्थ और कामोपभोगकी कुछ भी अभि-

---

॥ "सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते। सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्।" मनु अ० ४। ६ बनियेके धन्धेको सत्यानृत जाने और उससे भी आजीविका चलावे और सेवा को कुकुर वृत्ति कहा है इस कारण सेवावृत्ति को त्याग देवे। सत्यानृत = सत्य + अनृत—सच और झूँठ।

लाया नहीं है। मनुष्य स्वयं जब काम, विद्वेष और भयको त्याग देता, दूसरोंको त्रास नहीं देता, तथा शरीर मन और वाक्यसे किसी प्राणीके साथ पापाचरण नहीं करता है तभी उसको ब्रह्मपदका लाभ होता है"। (३)

"तपस्या, यज्ञ, दान और ज्ञानोपदेशसे इस लोकमें जो सब फलोंका लाभ हुआ करता है, एक मात्र अभयदान रूप पुण्यसे भी वह सब फल प्राप्त हो सकता है। जगत्में जो व्यक्ति सब प्राणियोंको अभयदान देता है वह समस्त यज्ञके फलों और अभय को लाभ करता है। वस्तुतः अहिंसासे बढ़कर श्रेष्ठ धर्म और कुछ भी नहीं है।" (४)

" जो लोग कृषि कर्मको उत्तम समझते हैं, मैं उनकी भी प्रशंसा नहीं + करता। क्योंकि कृषि भी अत्यन्त दारुण कर्म है। हे जाजले! लौहमुख हल, भूमिमें रहनेवाले सर्पादि प्राणियोंको नष्ट करता है और हलमें जुते हुए वृषभोंकी ओर देखो, वे कितना क्लेश सहा करते हैं।"(५)

टिप्पणी—तुलाधारके उपदेशोंका और अधिक सङ्कलन करना व्यर्थ है। तुलाधारने जिस वर्ण-धर्म को, धर्मका मूल बताने के लिये उपदेश नं० १ और २ का आरम्भ किया था, उसीका खण्डन अपने उत्तरोत्तर उपदेशों से करने लगा, जिससे यही प्रतीत होता गया, कि जाजलि ही तुलाधार से अधिक धार्मिक था! हाँ, उपदेश नं० ३ का २ के साथ आपेक्षिक सम्बन्ध मानकर यदि उसका अर्थ किया जाय तो 'निष्काम होकर वर्ण-धर्मके आचरण-द्वारा समाजकी सेवा करना ही परमेश्वरकी पूजा करना है, इसलिये यह परम 'धर्म है' ऐसा प्रकाशित हो सकता है; किन्तु जाजलिजी जो उत्तर देते हैं उससे ज्ञात होता है कि उपदेश नं० १ और २ को छोड़कर तुलाधारने और जो कुछ कहा था वह समाज-निर्दिष्ट वर्ण-धर्म के विरुद्ध, निवृत्ति और यति-धर्मका पोषक था। तुलाधार के उपदेशों से एक बात और जानी जाती है कि अति प्राचीन सनातन-धर्मका ज्ञान उस समय लोगों को स्वप्नवत् था और यति वा सन्यास धर्मका ज्ञान जाग्रत था और इसी कारण समाज-तत्व पर विचारशील पुरुषोंको शङ्का हो रही थी।

तुलाधार और जाजलि के विवादमें विचित्रता।

+ "कृषि साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता। भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्।" मनु अ० १०। ८४। अर्थ—कोई मानते हैं कि खेती अच्छी वृत्ति है, परन्तु सत्पुरुष इसकी निन्दा करते हैं (क) क्योंकि लोहेके मुखवाला काठका हल भूमिका (!) तथा भूशायी जीवों का नाश करता है।

(क) जिनको समाजतत्वका ज्ञान नहीं और जो कृषिसे उत्पन्न अन्न नहीं खाते ऐसों के सिवा और कौन सत्पुरुष कृषिकर्मकी निन्दा कर सकता है?

(शान्तिपर्व अ० २६२) जाजलि मुनिने उत्तर दिया "तुमने तुला-धारण करके (वणिक् वृत्ति से आजीविका करते हुए भी) जो यह धर्म प्रवर्त्तन किया है, इससे जीवोंके स्वर्गद्वार और जीविकाका अवरोध होता है। कृषिसे अन्न उत्पन्न होता है, तुम भी उसीसे जीते हो। पशुहिंसा न करने से यज्ञ पूर्ण नहीं होता, तुम उसी यज्ञकी निन्दा करके नास्तिकता प्रकाशित करते हो। लोग प्रवृत्ति मूलक धर्मका परित्याग करके कदापि जीवन धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकते।"

गणेश—वाहरे जाजलिजी! आप स्वयं निवृत्ति मूलक धर्मके अनुयायी होकर कठोर अहिंसा व्रतके पालनसे अपनेको सिद्ध समझे हुए थे और जीवित भी थे। वही आप अब दूसरे के मुखसे निवृत्ति मार्गकी और अहिंसाव्रतको प्रशंसा सुनकर असन्तुष्ट हो गये! आप जो पहले से ही निवृत्ति मार्गको श्रेष्ठ जानकर उसके पक्षपाती थे, आकाशवाणीसे प्रवृत्ति मार्गका सम्वाद पाकर उसकी श्रेष्ठता पर सन्देहयुक्त होकर उसके विषय में पूछने को जिसके पास आये, उसीसे जब आपने सुना कि निवृत्ति मार्ग ही श्रेष्ठ है, तब, निवृत्तिमार्गको अश्रेष्ठ कहकर प्रवृत्तिमार्गको श्रेष्ठ बताने लगे! ज्ञानमें तुलाधार जाजलि हो गया और जाजलि तुलाधार हो गया!! कैसा आश्चर्य!!!

मायानन्द—जिसको मालूम है कि वर्त्तमान महाभारत, एक व्यक्तिका रचा हुआ नहीं है, नाना पण्डितोंकी रचनायें इसमें प्रक्षिप्त हुई हैं, उसके लिये यह विचित्रता कोई आश्चर्य की बात नहीं है।*

इस विचित्रतासे केवल यही समझ पड़ता है कि उस प्राचीन कालमें भी विद्वानों में इस बात पर वाद-विवाद होता रहता था कि निवृत्ति मार्ग मानव धर्म है अथवा प्रवृत्ति मार्ग। समाजका ज्ञान लुप्त होने से, व्यक्तियोंके सम्बन्धसे धर्मका निश्चय करने पर वाद-विवाद होता रहता था। कृष्णावतारमें जब इन दोनों मतों का समन्वय करके **सनातन** धर्मके सिद्धान्तका पुनः आविष्कार किया गया तब भी उसके उचित प्रचारके अभाव से आज तक वह मोह दूर न हो सका।

तुलाधार-जाजलि-उपाख्यानसे, महाभारतकारका उद्देश्य यह बतलाने का था कि समाज-सेवा ही प्रकृत धर्म है। समाज सेवा, जीविका-

---

* श्रीमद्भगवद्गीता की टीकाकी प्रस्तावनामें प० सुब्बाराव लिखते हैं—

भावार्थ—श्रीमान्माधवाचार्य अपनी निर्णय नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि वर्त्तमान महाभारतमें वेदव्यास कृत मूल भारतका लक्षांश भी नहीं मिलता। इसकी ऐसी काट-छांट और तोड़-मड़ोर की गई है, नहीं नहीं, भारत के मूल प्रतिपाद्य विषयसे भिन्न इतने विषय इसमें घुसेड़े गये हैं—कि अब महाभारतमें भारत का कंकालावशेष रह गया है। इस कारण बड़े कष्टसे गहरी खोज और विचार कर भारतका प्रतिपाद्य विषय संक्षेपमें इस निर्णय नामक ग्रन्थ में रचा गया है। (अंगरेजी से अनुवादित।)

निर्वाहका हेतु होने पर भी, जब कोई स्वार्थ चिन्तासे रहित होकर उसका आचरण करता है तभी वह उसके लिये धर्ममें परिणत हो जाती है। हम अनुमान करते हैं कि इस तुलाधार-जाजलि-उपाख्यानके प्रथम आरम्भ में कदाचित् धर्मका रहस्य ऐसाही समझाया गया हो। परन्तु परवर्ती कालके किसी पण्डितने जीविकार्जनी वृत्तियों को स्वभावतः कामना मूलक जानकर एवं बिना शास्त्रीय आदेश के वे कैसे धर्म के रूप हो सकती हैं ऐसा विचार कर, स्मृति निर्दिष्ट वर्णोचित कर्मोंको धर्म कहा। (तुलाधार का उपदेश नं १ । २)।

इसके अनन्तर दूसरे किसी विद्वान्ने, जो समाज-तत्वसे पूर्णतया अनभिज्ञ था, और पारलौकिक श्रेयको ही धर्म समझता था, यह विचार कर, कि जीविकाके लिये कर्म करना तो मनुष्य मात्रका स्वभाव सिद्ध स्वार्थ है, और उसी स्वार्थके अनुकूल होकर उसका सदाचारी होना भी उचित ही है, इसमें पारलौकिक श्रेयस्साधक धर्मकी कौनसी बात है, निवृत्तिमूलक उपदेशोंको ही श्रेष्ठ धर्म बतलाया। समाजकी उत्पत्ति और स्थितिके मूल कारणोंके प्रति तथा समाजके साथ व्यक्तियोंके सम्बन्धके प्रति लक्ष्य न रहने से, उसने जाजलि प्रमुख ब्राह्मणोंके तपस्याचरणको मुख्य धर्म प्रतिपादन करने के लिये, अहिंसाको ही धर्मका मुख्य अंग कहा।

इस पर कोई तीसरा विद्वान, यह जानकर कि मनुष्योंकी जीविका कर्मों पर ही निर्भर है और श्रुति, स्मृति निर्दिष्ट कर्म ही धर्म है, निवृत्ति मूलक उपदेशों का प्रतिवाद निवृत्ति मार्गी जाजलिके मुखसे प्रकाशित करवाया। तुलाधारने अपने उपदेश नं० ३। ४ में जो अहिंसावादकी प्रशंसा की उससे यज्ञ में पशुबलिकी[५] निन्दा प्रकाशित हुई, सुतरां वेदकी निन्दा हुई, इसी कारण जाजलिने उसे नास्तिक कहकर डांटा। क्योंकि स्मृति, पुराण आदिकोंका

५ वैदिक पशुयाग और तान्त्रिक पशुबलि हिंसा नहीं कहाती, इसके समर्थन में ऋग्वेद में कहा है—"हे पशो! तू दूसरे पशुओं के समान मरता नहीं है तथा मारा भी नहीं जाता है, किन्तु सुन्दर देवयान मार्ग से देवताओं को पाता है।" इसी मंत्रके आधार पर मनु अ० ५। ४० में लिखा है "पशवो पक्षिणस्तथा यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः —अर्थात् पशु पक्षी यज्ञ में बलि होकर दूसरे जन्म में उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं तथा स्वर्ग को जाते हैं।" इस पर टीकाकार कहते हैं कि—"किसी प्राणीका अपकार करनेका नाम हिंसा है, परन्तु यज्ञमें जो पशुवध होता है उससे पशुके शरीरका नाश होनारूप अपकार होने पर भी वह नाश उस पशुके आत्मा का उपकार करने वाला है, क्योंकि—अनेकों पापोंसे प्राप्त पशु-शरीर से वह पशु छूटकर स्वर्गमें जाता है"! अर्थात् अपकार की मात्रा से उपकार की मात्रा अधिक होने के कारण वधकर्त्ता को पाप के बजाय पुण्य ही होता होगा। पशु भी अपनी पापयोनिसे छुटकारा पाने तथा स्वर्ग जाने की इच्छा अवश्य ही रखता होगा क्योंकि सुखकी चाहना जीव मात्रका स्वभाव है! नरबलि देने वाले कदाचित वेदान्त की युक्ति से काम ले रहे होंगे।

शासन यह है, कि जो वेदकी निन्दा करता हो वह × नास्तिक है। तुलाधारने, अहिंसावादके विचारसे, वेदकी निन्दा प्रच्छन्न रूपसे अवश्य की, किन्तु वह आस्तिक था और वेदान्ती भी था।

महाभारतके दृष्टान्तोंसे, यहां तक जिस बातका विचार हमने किया, उससे यह जाना गया कि 'समाज-सेवा मनुष्य मात्रका मुख्य धर्म है जिसका साक्षात् फल अर्थ और काम है और भविष्यत् फल स्वर्ग (सु + वर्ग ?) है' यह बात हजारों वर्षोंसे हम लोग भूले हुए हैं। आर्य ऋषियोंने समाजके हित तथा व्यक्तियोंके निश्रेयसके उद्देश्यसे धर्मकर्मोंका विधान किया था। इस युगल उद्देश्यको भूल कर हम लोग केवल अपने व्यक्तिगत इहलौकिक और पारलौकिक हितके लिये उनका अनुष्ठान करते हैं; इसीसे हम लोगोंके यावतीय कर्म सकाम और स्वार्थपर हो रहे हैं। जिससे अधर्म उत्पन्न होकर हम लोगों को रोग, शोक, दरिद्रतादि नाना रूपसे कष्ट दे रहा है।

× "नास्तिको वेदनिन्दकः" मनु अ० २। ११—जो कुतर्क के बल से श्रुति स्मृतिका अनादर करता है वह नास्तिक है।

गीतानुशीलनके अग्रिम चन्दा दातृगण ।

(धन्यवाद सहित स्वीकृत)

ग्राहक नंबर	नाम व पता	चन्दा
८	श्रीयुत बाबू द्वारकाप्रसादजी भार्गव, लार्डगंज जबलपुर ...	३)
९	„ „ सुकुमार चटर्जी आई. एन. जे. मढ़ाताल जबलपुर	३)
१०	„ डा० गणपतिनारायण हर्षे एल. एम. एस. लार्डगंज जबलपुर	२)
११	„ पं० रामकृष्ण बेलापुरकर, भानदारपुरा, जबलपुर ...	२)
१३	„ सेठ मोहनलाल हरगोविन्द बीड़ीवाले, लार्डगंज जबलपुर	३)
१४	„ बाबू कंछेदीलाल बी. ए. एल. एल. बी. वकील, जबलपुर	३)
१५	„ „ जीवनचन्द्र मुखोपाध्याय एम. ए. बी. एल. गवर्नमेंट एडभोकेट, जबलपुर	२)
१६	„ „ मनोरंजन चट्टोपाध्याय बी. ए. एल. एल. बी वकील जब०	२)
१७	„ डा० मनोहरलाल दुबे सरजन व फिजिशियन, गंजीपुरा जब०	१॥)
१८	„ बाबू सम्पूरणदास ओवरसियर, टौनहाल जबलपुर ...	१)
१९	„ „ देवीचरण बन्दोपाध्याय बी. ए. एल. एल. बी वकील ज०	२)
२०	„ „ शिवरतनलाल मालगुजार, गढ़ाफाटक जबलपुर ...	२)
२१	„ „ राजबहादुर भार्गव बी. ए. एल. एल. बी. वकील, जब०	२)
२२	„ „ राधाकृष्ण अग्रवाल गवर्नमेंट टेलिग्राफ डि० जबलपुर	२)
२३	„ „ प्रभासचन्द्र घोस बी. ए. एल. एल. बी. वकील, जबलपुर	२)
२४	„ „ जगदीशप्रसाद मालगुजार, बटरंगी, त० सिहोरा ...	१)
२५-३५	„ „ सियावरदासजी और उनके १० मित्र, अधारताल फारम जबलपुर	५॥)
३६	„ „ शिवप्रसादजी श्रीवास्तव बी. ए. एल. एल. बी वकील प्रेसीडेन्ट म्युनिसिपल कमेटी, जबलपुर ...	२)
३७	„ „ भोलानाथ सरकार बी. ए. एल. एल. बी. वकील, जबलपुर	२)
३८	„ „ कस्तूरचन्द बी. ए. एल. एल. बी. वकील, जबलपुर	२)
३९	„ पं० फकीरचन्दजी दीक्षित गंजीपुरा, जबलपुर ...	२)
		४७)

शुभचिन्तक प्रेस, जबलपुर में [illegible]

गीतानुशीलन के अग्रिम चन्दादातागण

(धन्यवाद सहित स्वीकृत)

ग्राहक		नाम व पता		चन्दा
४३	श्रीयुत	हरिदास पालित बी. ए. एल. एल. बी. वकील	जबलपुर....	१)
४४	,,	सत्यरंजनराय नित्यरंजनराय ऐ.	ऐ. ...	१।=)॥
५२	,,	बेनीप्रसाद जी ऐ.	ऐ.	१)
५५	,,	बलदेवप्रसाद जी मालगुजार बन्धइयापुरा	ऐ.	१)
६४	,,	नाथूराम मोदी बी. एस. एल. बी. (भूतपूर्व वकील)	....	२)
८४	,,	गौंटिया शोभासिंह मालगुजार गढ़ा	ऐ.	२)
९०	,,	शम्भूदयाल भार्गव एलाएन्स बैंक सिमला अजमेर	....	२)
९७	,,	बालगोविंद शुक्ल पेन्सनर	जबलपुर....	१)
१०६	,,	धुन्धेलाल रामदास नीमाड़गंज	ऐ.	२)
१३१	,,	वैदेही शरण भार्गव माइनिंग इन्जिनीयर	मथुरा ...	२)
१४१	,,	कुंजबिहारी गुप्त वकील	जबलपुर....	१)
१६५	,,	सेठ शिवबक्स राजाराम कोतवाली बाजार	ऐ.	२)
१८०	,,	भैयालाल एकाउन्टेन्ट पुतलीघर	ऐ. ...	१)
१८१	,,	बलदेवसहाय भार्गव	गैवाड़ी ...	२)
२२७	,,	राधारमन भार्गव बी. ए. एल. एल. बी.	गुरगांव....	३)
२२८	,,	बलदेवप्रसाद दुबे	जबलपुर	१)
२३१	,,	लाला लल्लूलाल जी मुनीम टिकरिया	ऐ. ...	१)
२४१	,,	राधिकाप्रसाद जी वर्मा बी. ए. एल. एल. बी.	ऐ. ...	२)
२४२	,,	सेठ गोपीराम भोंगेलाल जी निवाड़गंज	ऐ. ...	२)
२४३	,,	प्यारेलाल भार्गव बारिस्टर	सिवनी	२)
२५२	,,	अयोध्याप्रसाद भार्गव बारिस्टर	ऐ.	२)
२५६	,,	लक्ष्मण कृष्ण पद्मारकर बी. ए. एल. एल. बी. वकील	जबलपुर....	१)
२५९	,,	रा. बा. हीरालाल सा० डिप्टी कमिश्नर	वर्धा	१)
२५३	,,	सुरेशचन्द्र मुखोपाध्याय बी. ए. एल. एल. बी. वकील	जबलपुर...	३)
२९९	,,	मनोहर कृष्णगोलवरकर बी. ए. एल. एल. बी वकील	ऐ.	१)
३२६	,,	श्री० अमरदास जी श्री साधुबेलातीर्थ	शक्कर सिंध ...	५)
३३१	,,	हरिनाथ त्रिवेदी हि० अध्यापक	शाहजहांपुर ...	१)